अर्थशास्त्र क्या है ? – उत्पादन प्रणाली – स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली – जिन्सी उत्पादन प्रणाली – पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली – मूल्य – विनिमय व रुपया – अतिरिक्त मूल्य – अतिरिक्त मूल्य की दर – रोजी – यांत्रिक संगठन और मुनाफा की दर – ब्याज की दर और बैंक – भूमिकर – व्यवसाय संकट व बेरोजगारी – साम्राज्यवादी उत्पादन – बहुराष्ट्रीय कम्पनी – वैदेशिक मुद्रा व अन्तराष्ट्रीय मुद्रा कोष – भविष्य क्या है ?

अर्थशास्त्र

का

क – ख – ग

लोक साहित्य परिषद

प्रथम प्रकाशन : अप्रेल १९९१

छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा के कुछ सदस्य, समर्थक व शुभाकांक्षी द्वारा यह पुस्तिका लिखी गई ।

अर्थशास्त्र की बुनियादी बातें मेहनतकशों तक पहुंचाने का यह एक प्रयास है ।

रचना के लिए हिंदी, बंगला व अंगरेजी कई किताबों की मदद ली गई है ।

पाठकों से पुस्तक के विषय, भाषा आदि के बारे में सुझावों की अपेक्षा की जाती है ।

सहायता राशि : ५ रुपये

सम्पर्क :

लोक साहित्य परिषद

द्वारा – छत्तीसगढ़ मुक्ति मोर्चा

सी. एम. एस. एस. आफिस, दल्ली-राजहरा

दुर्ग, मध्यप्रदेश पिन– ४९१ २२८

प्रकाशक : लोक साहित्य परिषद, दल्लीराजहरा

मुद्रक : विजय प्रिंटिंग प्रेस, वालोद
व
बजाज प्रिन्टर्स, दल्लीराजहरा

अर्थशास्त्र क्या है ?

अर्थशास्त्र शायद आपके लिये एक नया शब्द है, लेकिन अर्थशास्त्र में जिन विषयों के बारे में चर्चा की जाती है, वे हमारे रोजमर्रा के जीवन के साथ जुड़े हुए हैं ।

रोटी, कपड़ा, और मकान के बिना जीना तो हमारे लिए नामुमकीन है । आराम से जीने के लिए हमें और कुछ चीजों की जरुरत होती है । हम किताबे पढ़ते हैं, रेडियो - टेपरिकार्डर सुनते हैं, सिनेमा टी.वी. देखते है । हर समय मनुष्य को कोई न कोई चीज की जरुरत होती है और उस जरुरत को पूरी करने के लिये वह कोशिश करता है । इन्सान जितना सभ्य होता गया, उसकी जरुरत उतनी ही बढ़ती गई और जरुरतमन्द चीजों को बनाने के लिये उसकी कोशिश भी उन्नत होती गई । अत: आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए वस्तुओं का निमार्ण हुआ, इसे हम उत्पादन कहते हैं ।

हजारों साल पहले की बात है, इन्सान उस समय असभ्य था। जंगल से कन्द-मूल और शिकार में मारे गये जानवर को वह खाता था । शिकार करने के लिए उसके हथियार थे - तीर कमान । पत्थरों से वह हथियार बनाता था । जरुरत की चीजें वह खुद ही तैयार कर लेता था किन्तु आज की सभ्य दुनिया की स्थिति कुछ दूसरी है । हमें जरुरत की चीजें जैसे चांवल, गहूं, रुई आदि खेत से मिलते हैं । खदानों से लोहा, कोयला, पेट्रोलियम पदार्थ आदि मिलते है, कारखाने के मशीनों से कपड़े और हजारों चीजें तैयार होती है । शुरुआत में इन्सान की जरुरत कम थी किन्तु अब ज्यादा है । मानव समाज की प्रगति के किसी भी स्तर को हम देखें, उसके लिये कुछ न कुछ जरुरी चीजों का उत्पादन करना ही पड़ता है ।

लेकिन जरुरी चीज की तैयारी कई प्रकार से हो सकती है । अगर हम मानव जाति के इतिहास पढ़ें तो हम जान पायेंगे कि इन्सान अलग-अलग अवस्था एवं युग में अलग अलग तरीके से अलग-अलग चीजें बनाया है और इन चीजों को आपस में बांटकर अपनी आवश्यकताओं को पूर्ति किया है । सामान तैयार करने का व उसके बांटने के नियम को ही उत्पादन प्रणाली कहा जाता है ।

इस उत्पादन प्रणाली में कौन कितना हिस्सा लेता हैं, उसी के आधार पर उत्पादन की प्रक्रिया में संलग्न मनुष्यो के बीच कुछ संबंध पैदा हो जाते हैं जिन्हें उत्पादन संबंध कहा जाता है। जैसे आप एक कारखाना में काम करते हैं, उत्पादन प्रणाली में आपका हिस्सा मजदूर के रुप में है, कारखाना मालिक के साथ, अन्य मजदूरों के साथ, जमींदारों के साथ, व्यापारियों के साथ, किसानों के साथ यानि समाज के सभी वर्गो के साथ आपका एक सम्पर्क बन जाता है। मानव समाज के विकास के साथ-साथ जैसे उत्पादन प्रणाली बदल जाती है वैसे ही उत्पादन संबंध भी बदल जाता है, उत्पादन कार्य में किसका क्या हिस्सा होगा और उत्पादित सामान का कितना हिस्सा किसको मिलेगा यह नियम भी बदल जाता है।

अर्थशास्त्र का पहला काम है अलग - अलग युग की अलग-अलग उत्पादन प्रणाली व उत्पादन सम्पर्कों को ढूंढ निकालना। अर्थशास्त्र का दूसरा काम है उन कारणों को ढूंढना जिससे उत्पादन प्रणाली व उत्पादन संबंध बदल जाते हैं, एक किस्म की उत्पादन प्रणाली की जगह दूसरी किस्म की उत्पादन प्रणाली प्रतिष्ठित हो जाती है। अर्थशास्त्र का तीसरा काम है, वर्तमान उत्पादन प्रणाली की चर्चा करना व उसकी गति निर्देश करना।

अर्थशास्त्र की शुरुआत तो आम विषयों से होती है, लेकिन अर्थशास्त्र के सिद्धांत आसान नहीं होते। उत्पादन प्रणाली पर ही करोड़ो लोगों की जिन्दगी निर्भर करती है। उत्पादन प्रणाली में थोड़ी सी गलती करोड़ो लोगों के दुःख का कारण बनती है। दरअसल हम वर्तमान में जिन समस्याओं को देखते हैं, जैसे कि बेरोजगारी, व्यवसाय संकट, युद्ध, खाद्य समस्या आदि, ये सभी उत्पादन प्रणाली की गलती के कारण ही होती है।

अर्थशास्त्र आपको कठिन लग सकता है लेकिन ध्यान पूर्वक आगे पढ़ने पर आपको समस्याओं के मूल कारणों के बारे में साफ पता चल जायेगा।

उत्पादन प्रणाली

उत्पादन प्रणाली दो किस्म की होती हैं। पहला सरल स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली, दूसरा जिन्सी उत्पादन प्रणाली। सरल

स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली में चीजे बेचे या खरीदे नहीं जाते है, क्रय-विक्रय अगर होता भी है तो बहुत ही कम तादात में होता है। लोग बेचने केउद्देश्य से सामान नहीं बनाते, खुद के जरुरत की पूर्ति ही उत्पादन का मुख्य लक्ष्य है। उदाहरण के लिये एक गांव वाले अपनी सभी जरुरत की वस्तुयें जैसे कपड़ा, बर्तन, चावल, तेल, आदि खुद ही तैयार कर लेते हैं ऐसे उत्पादन प्रणाली को स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली कहा जाता है। इस उत्पादन प्रणाली की मुख्य विशेषता यह है कि इसमें क्रय-विक्रय (बेचना-खरीदना) या बिनिमय की जरुरत नहीं होती है। अगर क्रय-विक्रय होता है तो वह संयोग से हो जाता है। मान लीजिये कोई आदमी अपनी जरुरत से ज्यादा कोई चीज तैयार कर लिया है तो वह दूसरे व्यक्ति के अतिरिक्त उत्पादन के साथ अपने अतिरिक्त उत्पादन का अदल बदल कर लेता है। स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली का नियम है।

जरुरत → जरुरतमन्द चीजों का उत्पादन → उत्पादित सामान के इस्तेमाल से जरुरत की पूर्ति

जिन्सी उत्पादन प्रणाली इसके विपरीत है। यहां उत्पादन विनिमय के लिये किया जाता है। कोई भी व्यक्ति कुछ भी उत्पादन करे वह बाजार में बेचने के लिए ही है। वह अपने उत्पादित चीज को बेचता है और अपनी जरुरत के चीजों को खरीदता है। मान लीजिए एक बुनकर को चावल चाहिए, वह कपड़ा बनाता है, बाजार में कपड़ा बेचता है और चावल खरीदता है। मजदुर को कपड़ा चाहिये सिर्फ श्रम शक्ति यानि मेहनत करने की क्षमता ही उसके पास है, उसे वह बेचता है इसमें उसको जो पारिश्रमिक मिलता है उससे वह कपड़ा खरीदता है। इस समाज में भी कुछ कुछ सामान खुद के व्यवहार के लिये सरासर बनता है। जैसे कि आप कुछ सब्जी अपने ही बाड़ी में उगाते हैं, परिवार के खाने के लिये, लेकिन समाज के कुल उत्पादन की तुलना में इस किस्म का उत्पादन बहुत ही कम तादाद में होता है। अधिकांश सामान बेचने के लिये ही तैयार किया जाता है। इस उत्पादन प्रणाली का नियम है।

जरुरत → उत्पादन → उत्पादित सामान का विनिमय → जरुरत की पूर्ति

विनिमय ही जिन्सी उत्पादन प्रणाली का प्रधान लक्षण है। विनिमय के लिये ही माल तैयार होता है। माल दुकान में खरीदा बेचा जाता है। कोई भी सामान इस समय सामान नहीं रहता बल्कि उसमें एक गुण पैदा होता है। इनसे हमारी जरुरत तो पूरी होती ही है उसी के साथ साथ उनसे हम दूसरे सामान भी खरीद सकते हैं।

विनिमय प्रथा चालू रखने के लिये दो शर्तें अनिवार्य है, वे हैं श्रम विभाजन और सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार। हमें जीने के लिये बहुत सारी चीजों की जरुरत होती है, लेकिन हर चीज, हर समय, हर व्यक्ति नहीं बना सकता। मान लीजिये आपको कपड़ा चाहिये लेकिन आप कपड़ा तैयार नहीं कर सकते, कपड़ा तैयार करने का काम बुनकर का है, बुनकर को जुते की जरुरत है लेकिन यह कार्य मोची करता है। ऐसे ही समाज में अलग-अलग लोग अलग-अलग सामान तैयार करते हैं। इस प्रक्रिया को श्रम विभाजन कहा जाता है। श्रम विभाजन होने पर उत्पादन का परिणाम ज्यादा होता है, तथा उत्पादित सामग्री की गुण-वत्ता भी अच्छी होती हैं। क्योंकि लगातार एक ही काम करते करते व्यक्ति इतना कुशल हो जाता कि वह बहुत आसानी से बहुत कम समय में अच्छा उत्पादन कर सकता है।

लेकिन सिर्फ श्रम विभाजन रहने से ही विनिमय नहीं होता मान लीजिए की समाज के प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार के चीज बनायें हैं उनको एक जगह पर इकट्ठा किया और वहां से जिसको जिस चीज की जरुरत है उन्हें लेते रहें। ऐसे में विनिमय का सवाल ही नहीं उठता। विनिमय प्रक्रिया को रहने के लिये समाज मे श्रम विभाजन के साथ-साथ सम्पत्ति पर व्यक्ति का अधिकार होना आवश्यक है। यानि उत्पादित सामग्री, उत्पादक का खुद होना चाहिये। उत्पादित सामग्री अगर समाज का होता है तो विनिमय की जरुरत नहीं होती। लेकिन कपड़ा बुनकर का ही होगा, जूता मोची का, चावल पर किसानों का अधिकार रहेगा ऐसी स्थिति में विनिमय को छोड़कर किसी के लिये भी जीना असंभव है। मोची जुता वनाता है, उसे भूख लगती है लेकिन वह जुते से पेट नहीं भर सकता अतः वह जुते लेकर बाजार जाता है, किसान के पास चावल है और उसे जुते की आवश्यकता है, किसान चावल लेकर बाजार जाता है, मोची और किसान में सौदेवाजी होती है। किसान चावल के बदले जुता लेता है, मोची जुते के बदले चावल लेता है। यानि विनिमय

की प्रक्रिया के लिये श्रम विभाजन और उत्पादित सम्पदों पर व्यक्तिगत अधिकार होना है। सम्पदों पर निजी अधिकार होने की स्थिति में श्रम विभाजन जितना बढ़ता जायेगा, विनिमय प्रक्रिया भी उतनी ही ज्यादा आवश्यक होगी और इसी से ही जिन्सी उत्पादन प्रणाली की शुरुआत होगी। अगर हम दुनिया के इतिहास को पढ़ें तो हम पायेंगे कि प्राचीन युग से आजतक अलग अलग समय में अलग-अलग उत्पादन प्रणाली थी। इनमें कुछ स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली थी कुछ जिन्सी उत्पादन प्रणाली। इसके अतिरिक्त और भी कुछ उत्पादन प्रणाली में स्वाभाविक व जिन्सी दोनों प्रकार के उत्पादन प्रणाली की कुछ-कुछ विशेषतायें देखने को मिलती है। जैसे –

१) आदिम साम्यवादी उत्पादन

२) सामन्त तान्त्रिक उत्पादन
- क/ क्रीतदास भित्तिक
- ख/ भूदास भित्तिक

३) कुटीर उद्योग

४) पूंजीवादी उत्पादन
- क/ व्यापारियों का युग
- ख/ कारखानों का युग
- ग/ इजारेदारी उत्पादन, बैंक व साम्राज्यवाद का युग

५) सर्वहारा वर्ग की एकाधिपत्य

६) समाजबादी उत्पादन

७) साम्यवादी उत्पादन

इनमें से सिर्फ आदिम साम्यवादी उत्पादन ही शुद्ध रुप स्वाभाविक उत्पादन है और कुटीर उद्योग व पूंजीवादी उत्पादन शुद्ध रुप मे जिन्सी उत्पादन है। बाकी उत्पादन प्रणालियों में दोनों किस्म की विशेषतायें मिलती है।

स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली

आदिम साम्यवादी समाज

आदिमकाल में मानव जंगल में रहता था। उसके हथियार पत्थर के टुकड़े, लकड़ी के डण्डे, जानवरों के सिंग व हड्डियों के थे। इन हथियारों से वह बड़े-बड़े जानवरों से अपनी रक्षा करता था एवं खाने पीने का सामान जुटाता था। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति व जानवरों से अपनी रक्षा के लिए लोग कबीले बनाकर रहते थे। काम यानि कन्द-मूल जुगाड़ करना व शिकार वे मिल जुल कर करते थे। कबीले में किसी एक को नेता मान लिया जाता था। नेता लोगों को काम की जिम्मेदारी बांट देता था यानि थोड़ा बहुत श्रम विभाजन तब भी था। महिलायें कन्दमूल जुगाड़ करती थी, पुरुष शिकार करने जाते थे। दिन भर में जो कुछ मिलता था उसे सब आपस में बांटकर खाते थे। कभी अधिक शिकार मिल जाता था, तो कभी कुछ भी नहीं मिलता था। अतिरिक्त खाद्य को बचाकर रखना भी संभव नहीं था क्योंकि वह खराब हो जाता था। इस समाज की उत्पादन प्रणाली की विशेषतायें इस प्रकार थी।

क/ समाज के सभी लोग मिल-जुलकर उत्पादन करते थे।

ख/ उत्पादित सामग्रियों का उपयोग सभी मिलकर करते थे।

ग/ अमीर गरीब का फर्क नहीं था, इसलिये वर्ग नहीं था।

घ/ उत्पादित सामाग्रियों को संचय करना संभव नहीं था।

लेकिन यह व्यवस्था ज्यादा दिन तक नहीं टिक सकी। समाज की उत्पादन क्षमता बढ़ रही थी।

पत्थरों को तोड़ते समय या उनका उपयोग करते समय शायद कोई चिंगारी सूखे घास पर गिरी होगी, इससे मानव ने आग पैदा करना सीखा। पत्थरों को शान लगाकर उन्नत हथियार बनाना सीख गया। शिकार के दौरान दूध देने वाले मृत पशुओं के बच्चों को कभी देखकर मानव के मन दया भाव पैदा हुआ और साथ ही उनकी उपयोगिता जानकर वह पशु पालन की बात सोचने लगा। खाये हुए फलों के बीजों को इधर उधर फेंकने की प्रक्रिया मे मानव ने उन्हें पुनः

उत्पन्न होते देखकर उन्हे पैदा करनें के बारे में जानकारी हासिल किया। यहीं से कृषि की शुरुआत हुई।

कुछ कबीले पशु पालन को अपना मुख्य धन्धा बना लिये। कुछ कबीले कृषि कार्य को अपनाये, हल का अविष्कार हुआ, कृषि कार्यों में पशुओं का उपयोग करना शुरु हुआ, अपेक्षाकृत कम मेहनत में ज्यादा पैदावार होने लगी। उत्पादन क्षमता के बढ़ जाने से उनके पास अतिरिक्त सामान रहने लगा। अनाज या पशु अतिरिक्त होने पर भी खराब नही होते। शुरु-शुरु में एक कबीला अपने अतिरिक्त उत्पादन को दूसले कबीले के अतिरिक्त उत्पादन के साथ विनिमय करने लगा। ऐसे ही बीच-बीच में कुछ विनिमय होता था, लेकिन विनिमय एक नियमित घटना नहीं थी। धीरे-धीरे जनसंख्या बढ़ती गई और श्रम विभाजन बढ़ता गया, श्रम विभाजन के साथ साथ विनिमय की आवश्यकता भी बढ़ती गई।

सर्वप्रथम यह विनिमय कबीले का मुखिया करता था। जैसे-जैसे कारोबार बढ़ने लगा, मुखिया कबीले की संपत्ति को निजी संपत्ति बनाने लगा, इसके साथ-साथ कबीलों में आपसी झगड़ा भी होनें लगा।

दूसरा, एक समाज व्यवस्था आदिम साम्यवादी समाज का स्थान लेने लगी।

दास समाज

कबीलों के आपसी लड़ाई में पहले बहुत लोग मारे जाते थे। विजयी कबीला हारे हुए कबीले के लोगों को अकारण मार देते थे। कभी कभी किसी बन्दी को अपनें कबीले में शामिल भी कर लेते थे, लेकिन कृषि व पशु-पालन प्रारंभ होने के बाद हारे हुए लोगों को बन्दी बनाकर उनसे जबरदस्ती कृषि व पशु-पालन के काम कराये जाने लगे, जिससे हारे हुए व्यक्ति विजेताओं का गुलाम बनते रहे। इस प्रकार समाज में दो वर्ग का निर्माण हुआ – मालिक और गुलाम। पहले गुलाम कबीले की सामुहिक संपत्ति माने जाते थे।

शुरु में कृषि योग्य भूमि को हरसाल कबीले के लोगों में बांट दिया जाता था। लेकिन बाद में भूमि के उपर व्यक्तिगत अधिकार

स्थापित होता गया, उत्पादित सामग्रियों के उपर निजी अधिकार स्थापित होता गया।

इस समाज में विनिमय तो था, लेकिन श्रम विभाजन उतना व्यापक न रहने के कारण विनिमय प्रथा भी सीमित रही ।

सामन्ती समाज

भूमि पर निजी अधिकार स्थापित होने के बाद कुछ लोग बहुत ही प्रभावशाली बन गये। अधिकतर भूमि इनकें हाथों में आ गई । वे अपनी संपत्ति की रक्षा के लिए छोटी-छोटी सेना बनाने लगे। ये छोटे राजा थे। युद्ध में छोटे राजाओं को हराकर कोई एक राजा बड़ा राजा बन जाता था। प्रारम्भ में विजयी राजा पराजित राजा की सभी संपत्ति दखल कर उसे राज्य से निकाल देता था, लेकिन इससे राज्य का अत्याधिक विस्तार होने लगा, जिससे उसके संचालन में कठिनाई आनें लगी। अतः अब विजयी राजा पराजित राजाओं से समझौता करके चुक्ति कर लेने लगा, फिर प्रतिवर्ष उसे पराजित राजाओं द्वारा कर मिलने लगा। इस प्रकार सामन्ती युग का आगमन हुआ ।

लेकिन कुछ देशों मे कोई राजा नहीं बन पाये, वहां तीन वर्ग के लोग थे। कुछ छोटे स्वतंत्र किसान जो खुद ही अपने खेत में अनाज उगाते थे। और थे, अमीर और उनके गुलाम। ये बड़े भूमि स्वामी गुलामों को अपने खेत में कार्य कराते थे। बड़े जमीन मालिक गुलामों के मेहनत पर परजीवी जैसा दिन बिताते थे। इनके पास बहुत अधिक धन सम्पदा का संचय होने लगा, ये भोग विलास में लिप्त रहते। इनके भोग विलास के आवश्यकताओं की आपूर्ति के लिये व्यापारी वर्ग का उदय हुआ। कहीं-कहीं इन आवश्यकताओं के उत्पादन के लिए बड़े-बड़े कारखाने बनाए गये, जहां बहुत सारे गुलाम काम करते थे। गुलामों के श्रम पर जीने के कारण समाज के ऊंचे तबके के लोगों को पर्याप्त अवसर मिलता था, इस समय में बिभिन्न प्रकार के साहित्य, दर्शन व विज्ञान की चर्चा होने लगी।

यह व्यवस्था भी ज्यादा दिन नहीं रही। बड़े भू-स्वामी भोग-विलास में डुबे रहते थे, इसलिए युद्ध के समय इन्हें मजबूर होकर किसानों की सहायता लेनी पड़ती थी, लेकिन ये स्वतंत्र किसानों को भी बड़े भू-स्वामियों से प्रतियोगिता व अत्याचार का दुःख झेलना पड़ता था।

भूस्वामी से कर्ज लेने पर ४० से ७० प्रतिशत तक ब्याज देना पड़ता था। युद्ध में जो खर्च होता था वह भी किसानों से वसूल किया जाता था, लेकिन युद्ध में जो माल या गुलाम मिलता था वह उन्हें नहीं मिलता, क्योंकि युद्ध करने का हक सिर्फ अमीरों के हाथ में ही था। बीच बीच में गुलाम अत्याचार उत्पीड़न के खिलाफ बगावत करते थे तो सामंती समाज को हिला देते थे, लेकिन उनमें आपसी एकता न रहने के कारण सफल नहीं हो पाते थे।

गुलामी व्यवस्था में विनिमय की प्रक्रिया बहुत बढ़ गई थी। विनिमय की सुविधा के लिए मुद्रा का उदय हुआ, लेकिन तब भी विनिमय मुख्यतः अमीरों के भोग-विलास के चीजों और गुलाम खरीदना बेचना में सीमित रहा। आवश्यक सामान ज्यादातर स्वाभाविक उत्पाद प्रणाली में ही पैदा होता था।

सामन्ती युग का यह चरण खत्म होनें के बाद भूदास प्रथा शुरु हुआ। अपने जमीन पर भूदास का कोई अधिकार नहीं होता था, अपनी मर्जी से जमींदार उसको जमीन से हटा देता था। सप्ताह में तीन चार दिन भूदास को जमींदार के जमीन में काम करना पड़ता था जिसकी मजदूरी भूदास को नहीं मिलती थी। इसके अलावा भूदास को विभिन्न प्रकार के कर देना पड़ता था। इनके शोषण से स्वतंत्र किसानों को भी छुटकारा नहीं मिलता था। आकाल के समय किसान मजबूर होकर जमींदार से कर्ज लेता था। जमींदार किसान को ब्याज के जाल में फसां लेता था और उसके जमीन को हड़प लेता था। स्वतंत्र किसान भूदास बन जाता था। शुरु-शुरु में जमींदार किसानों को बाहरी दुश्मनों से रक्षा करने का व सिचाई का प्रबन्ध कर कृषि के विकास की जिम्मेदारियां निभाता था। लेकिन बाद में राजा छोटे सामन्तों से एक निश्चित धन राशि लेते रहे व उसकी बाहरी रक्षा का दायित्व निभाते रहे। जमींदार कृषि के विकास पर ध्यान देना छोड़ दिया। अत्याचारी कर्मचारियों के जरिये किसानों से कर लेना ही उसका एक मात्र काम रह गया। बीच-बीच में शोषण-पीड़न से त्रस्त किसानों ने कई बार बगावत तो किये लेकिन अपने संगठन व एकता न रहनें के कारण वे सफल नहीं हुए।

कुटीर उद्योग

हर गांव में किसानों को कुछ चीजों की आवश्यकता पड़ती थी, जैसे कपड़ा, हल, मकान आदि। बुनकर कपड़ा तैयार करता था, कुछ मिस्त्री हल बनाते थे, कुछ मिस्त्री घर बनाते थे, इसके बदले किसान उनके खाने पीने का बन्दोबस्त कर देता था। इन लोगों को दस्तकार कहा जाता था, ये लोग अपने घर में बैठकर काम करते थे, इसलिए इनके उद्योगों को कुटीर उद्योग कहा जाता था। जहां कोई राजा या बड़ा जमींदार रहता था वहां धीरे धीरे शहर बनता गया, राजा के सैन्य कर्मचारी आदि लोग वहां रहते थे, इसलिये वहां के दस्तकारों को कुछ ज्यादा कमाई होने लगी। शहर के दस्तकार सिर्फ जनता के आवश्यक चीजें ही नहीं बनाते थे, बलिक अमीरों के भोग-बिलास की चीजें भी बनाते थे। इस प्रकार शहर में कुटीर उद्योग की भारी उन्नति हुई।

शहर के दस्तकारों में आपसी होड़ को दूर कर ज्यादा मुनाफा कमाने के लिय एक शक्तिशाली समिति बनाया, इस समिति को गिल्ड कहा जाता था। हर दस्तकार को इस समिति का सदस्य होना आवश्यक था। उत्पादन को सीमित रखने के लिए गिल्ड द्वारा एक नियम बनाया गया कि, कोई दस्तकार अपने दुकान में दो या तीन से ज्यादा प्रशिक्षार्थी को काम में नहीं लगा सकेगा। कच्चे माल की खरीदी, प्रशिणार्थियों का वेतन, उत्पादित वस्तुओं के मूल्य आदि सभी बिषय समिति तय कर देती था। दस्तकारों की संख्या को सीमित रखने के लिए कुछ कड़े नियम बनाये गये। शिक्षार्थी को आसानी से दस्तकार नहीं बनने दिया जाता थो, उनका प्रशिक्षण काल बढ़ा दिया जाता था, दस्तकार बनने के लिए उन्हें कठिन परीक्षा का सामना कर समिति को मोटी रकम देना पड़ता था। शुरुआत में तो कोई भी प्रशिक्षणार्थी दस्तकारबन सकता था लेकिन बाद में सिर्फ प्रभावशाली दस्तकारों के रिस्तेदारों के अलावा और किसी को दस्तकार बनने का अधिकार नहीं दिया जाता था। इसके कारण प्रशिक्षणार्थीयों में बगावत की आग जलने लगी और वे एक जूट होकर समितियों का विरोध करने लगे। शहर में विनिमय प्रणाली इस समय पूर्ण रुप से चालू हो गई थी, श्रम विभाजन भी आगे बढ़ता गया। एक ही चीज के अलग-अलग अंश अलग-अलग लोग बनाने लगे, जैसे कि कपड़ा बनाने के लिए कोई रुई से सूत बनाता कोई सूत को रंग

करता था, कोई सूत से कपड़ा बुनता था, फलस्वरुप उत्पादन क्षमता अत्याधिक बढ़ती रही। समाज में एक नया अध्याय शुरु हुआ, जिन्सी उत्पादन प्रणाली स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली का स्थान लेने लगी।

जिन्सी उत्पादन प्रणाली

श्रम विभाजन बढ़ जाने के कारण कुटीर उद्योग की उत्पादन क्षमता बढ़ गयी। अपने शहर की जरुरत पूरी करने के बाद भी माल अतिरिक्त रहने लगा। व्यापारियों ने तब इन अतिरिक्त मालों को खरीद कर उसे दूसरे स्थानों में भेजते रहे, इससे उन्हे बहुत मुनाफा होनें लगा और ज्यादा मुनाफा कमाने के लिये वे उत्साह के साथ ज्यादा से ज्यादा व्यवसाय करने लगे। वे माल उत्पादन से पहले हीं दस्तकारों को आर्थिक मदद के रुप में पैसे देते थे, इससे ज्यादातर दस्तकार बनियों के कब्जे में आ गये। शुरुआत में व्यापारी दस्तकार को कच्चा माल देता था और तैयार माल खरीद लेता था। दस्तकार कोई दूसरे व्यापारी के पास अपना माल बेच नहीं सकता था। अन्त में दस्तकारों को अपना कुटीर छोड़ना पड़ा, उनको व्यापारी के घर में आकर काम करना पड़ा। वहां व्यापारी उसको उत्पादन के सभी साधन देता था (माल बनाने का औजार कच्चा माल इत्यादि) ऐसे ही कारखानों की शुरुआत हुई। दस्तकार मजदूर बन गया, वेतन लेकर वह कारखाने में काम करने लगा। दस्तकारों कीं समितियां टुट गई। प्रशिक्षणार्थी दस्तकारों को छोड़कर कारखानों में काम करने लगे। दस्तकारों में से जिनकी स्थिति अच्छी थी वे खुद ही गिल्ड के कानून तोड़ने लगे, ज्यादा संख्या में मजदूरों से काम करवाने लगे, यानि उसका कुटीर कारखाना बन गया। गरीब दस्तकार बड़े कारखाना मालिकों से प्रतियोगिता में हार गये और काम की तलाश में व्यापारी के पास जाने को मजबूर हुए। व्यवसाय की सुविधा के लिए रास्तों की भी बहुत उन्नति हुई। आवागमन के साधनो का भी विस्तार हुआ। कुछ ही दिनों में बिनिमय प्रथा गांवों में भी फैल गया। पहले जमींदार किसान और भूदास से अनाज वसूल करता था। अनाज का बाजार सीमित रहने के कारण जमींदार की वसूली भी सीमित थी। माल का बाजार बढ़ जाने से अनाज का बाजार भी बढ़ गया। किसान व भूदास पर जमींदार का शोषण भी हजारों गुना बढ़ गया। कई किसान और भूदास तो शोषण से त्रस्त होकर गांव छोड़कर काम की तलाश में

शहर भागे। जमींदारों ने पलायन को रोकने के लिये कानून बनाया। कई स्थानों में तो जमींदार खुद ही किसानों को जमीन से हटाकर, उसमें भेड़ पालना शुरु किया क्योंकि ऊन बनाना उस समय एक लाभदायी धन्धा था। दूसरी तरफ किसान अपनी जमीन से विस्थापित होने के कारण गरीब होता गया। गांव में दस्तकार का धन्धा भी खराब होते गया, क्योंकि गांव के किसान व भूदास ही उसके ग्राहक थे। रोजगार की तलाश में गांव के दस्तकारों को शहर जाना पड़ा।

शहर विकसित होते गया, शहर की जनसंख्या बढ़ती गई। बड़े-बड़े कारखाने बने, मशीन के सहारे अब दस व्यक्ति का काम एक व्यक्ति से होने लगा। माल उत्पादन बढ़ रहा था, माल बेचने के लिए नये नये बाजार ढुंढना पड़ता था, नये बाजार के लिए पिछड़े देशों में बनिये जाने लगे।

लेकिन तब भी जमींदार का बहुत दबदबा था, इन्ही हाथों में कानून बनाने का अधिकार था, इसलिए धन्धा चलाने में व्यापारियों को दिक्कत होती रही। एक जमींदारी से दूसरी जमीदारी में माल ले जाने के लिये कर देना पड़ता था, कभी-कभी झूठा बहाना बनाकर उनका माल जब्त कर लिया जाता था। राजा के साथ जमींदारों का झगड़ा था व्यापारियों ने राजा को पैसा देकर मदत मांगा, राजा लड़ाई में जमींदारों को हरा दिया, देश मे शक्तिशाली शासन स्थापित हुआ। धन्धा, कारोबार व उत्पादन की दृष्टि से देश एक बन सका। जमींदार अपने भोग-विलास के खर्च के कारण पहले से ही व्यापारियों के कर्ज ले चुका था, कर्ज के विनिमय में उसको नगर प्रशासन के कई महत्वपूर्ण क्षमता व्यापारियों के हाथ छोड़ना पड़ा था, अब तो शहर की पूरी सत्ता व्यापारियों के कब्जे में आ गयी। फ्रांस देश मे तो व्यापारी वर्ग इतना ताकतवर बन चुका था कि फ्रांसिसी क्रान्ति के बाद पूरी सत्ता व्यापारियों के कब्जे में आ गई, वे अपनी जरुरत के मुताबिक कानून बनाते रहे, जी भर धन्धा करते रहे और प्रचुर मुनाफा कमाते रहे, उसके बाद पूंजीवाद बनिया तंत्र का शेष हुआ और कल कारखानों का युग शुरु हुआ। समाज के उपयोग की चीजें अब विनिमय के लिये ही बनाये जाने लगी, जिन्सी उत्पादन प्रणाली प्रायः पूर्ण रुप से स्वाभाविक उत्पादन प्रणाली का स्थान ले ली। पूरा समाज क्रय विक्रय के उपर आश्रित होकर दिन बिताने लगे।

पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली

इस प्रणाली की मुख्य विशेषता यह है कि यहां बड़े कारखानों में शशीनों की मदद से बड़ी मात्रा में माल तैयार होता है। कारखाना में हजारों मजदूर रोजी के विनिमय में काम कर माल उत्पादन करते हैं। कारखाने में मशीन, कच्चामाल आदि कारखाना मालिक का ही होता है। कारखाना में उत्पादित माल को मालिक बाजार में बेचता है, और उससे मुनाफा होता है, मुनाफे के लिये वह धन्धा करता है।

ये सब मशीन खरीदने के लिये, कारखाना बनाने के लिये बहुत रुपया खर्च होता है, इस रुपये को पूँजी कहा जाता है। कारखाना में उत्पादन शुरु होने के बाद जो मुनाफा होता है उससे पूँजी को बढ़ाकर कारखाना का विस्तार किया जा सकता है, लेकिन शुरुआत की पूंजी आयी कहां से? क्या व्यापारी अपनी कमाई से थोड़े-थोड़े पैसे बचाकर पूँजी इकट्ठा किया? लेकिन सामन्ती युग में जमींदार के अलावा और सभी की कमाई तो बहुत ही कम थी, ज्यादातर लोग बचत कर ही नहीं पाते थे, तो पूँजी कैसे इकट्ठी हुई? पूंजी इकट्ठा हुआ लूटमार, डकैती और क्रूर शोषण के जरिये। व्यापारी दस्तकारों का शोषण करता था, अनपढ़ भोले-भाले किसानों का भी वे शोषण करते थे, लेकिन सबसे ज्यादा धन सम्पदा मिला उन्हें एशिया, अफ्रीका, और अमेरिका से। एशिया और अफ्रीका में वे अपना धंधा चलाते थे, अफ्रीका के काले लोगों को बन्दी बनाकर उन्हें बेचते थे, अमेरिका के धन सम्पदा वे लूटते थे। एशिया व अफ्रीका में वे धंधा चलाने के लिये वे बड़े-बड़े कम्पनी का गठन किये (ऐसी ही एक कम्पनी ईस्ट इन्डिया कम्पनी अंग्रजों के देश से भारत में धंधा करने को आयी थी) वे जो धंधा चलाते थे उसे धंधा न कहकर लूटमार और डकैती कहना ही ठीक है। इन कम्पनियों के कर्मचारी इतने धनवान बनकर लौटते थे कि उनके देशवासी नवाब कहकर उनका मजाक उड़ाते थे। जिस तरीके से ये अफ्रीकी लोगों को गुलाम बनाकर दूसरे देशों में (खासकर अमेरिका में) भेजते थे, उसका इतिहास जितना ही घृण्य था, उतना ही क्रूर था। लेकिन दास व्यवसाय से ही न जाने कितने लोग लखपति बन गये, अपने देश में उन्हें इज्जत भी बहुत मिल गई। (जैसे आज कारखाना मालिक को मिलनी है।) अमेरिका में सोना की खोज मिलते ही कितने लौग अमेरिका में कूद पड़े, उनका एक ही लक्ष्य

था, धन्धा शुरु-करने से पहले पूंजी इकट्ठा करना। इस दौर में अमेरिका के आदिम जातियों को करीब-करीब खत्म कर दिया गया। ऐसे पूँजी बनाने के लिये बनिया अनेक जीवन का बलिदान किया।

लेकिन सिर्फ पूंजी रहने से तो पूंजीवादी उत्पादन चलाया नहीं जा सकता, पूँजीवादी उत्पादन के लिए हजार-हजार मजदूरों की भी जरुरत पड़ती है। ये मजदूर आये कैसे ? ये स्वेच्छा से कारखानों में काम करने नहीं आये। कारखानों में वे चैन से नहीं थे, दिन में लगातार १७-१८ घण्टा उनको काम करना पड़ता था। जो वेतन उन्हे मिलता था उससे मुश्किल से ही गुजारा किया जा सकता था। वच्चे तो काम करते-करते थक जाते थे और कारखाना में ही सो जाते थे, सरदार उन्हे धक्का मार-मार कर उठाता था, कभी-कभी तो नींद से जगाने के लिए उन्हें ठण्ड के मौसम में बर्फ के ठण्डे पानी में डुबाया जाता था। ऐसी स्थिति में तो कोई स्वेच्छा से काम करने नहीं आता था, वे मजबूर होकर ही जाते थे।

किसान और गुलाम लोग अत्याचार से त्रस्त होकर गांव से पलायन किया और मजबूर होकर कारखानों में मजदूर बने। गांव के किसान जब गरीब हो गये तो गांव के दस्तकारों को भी धंधा छोड़कर शहर में मजबूर होकर आना पड़ा। शहर के दस्तकार कारखाना मालिक के साथ प्रतियोगिता में हार कर मजदूरी करने को मजबूर हुए। जीने के लिए इनके पास दूसरा कोई चारा नहीं था। इससे मालिकों को बहुत सुविधा मिली इन्हें कम वेतन देकर काम कराया जा सकता था और इससे मालिकों को बहुत मुनाफा होने लगा। इसी तरह पूँजी और मजदूरों के सहारे पूंजीवादी उत्पादन की शुरुवात हुई थी। जैसे उत्पादन प्रणाली चलती गई, पूँजी भी बढ़ती गई, और पूंजीवादी उत्पादन तेजी से चलता रहा।

मूल्य

हम पहले देख चुके हैं कि कोई भी उत्पादित माल की दो विशिष्टतायें होती है, पहला ये हमारे काम में लगते हैं यानि किसी न किसी कमी को पूरी करते है। दूसरा ये बाजार में बिकते हैं। कोई चीज अगर किसी भी कमी को पूरी नहीं करता तो वह बाजार मे बिकता

नहीं, जो चीज किसी भी काम में नहीं लगता उसे कोई खरीदता नहीं। यानि क्रय-विक्रय के लिये माल की कमी पूरी करने की क्षमता जरुर रहना चाहिये। इस क्षमता को व्यबहारिक मूल्य कहा जाता है। जिस चीज की जितनी कमी पूरी करने की क्षमता है उसका उतना ही व्यवहारिक मूल्य है, लेकिन सिर्फ व्यवहारिक मूल्य रहने पर ही कोई चीज का क्रय विक्रय नहीं होता, जैसे कि हवा का व्यवहारिक मूल्य तो बहुत है, क्योंकि हवा न रहने पर हम कुछ मिनटों ही जी सकते है लेकिन हवा तो बाजार में विकता नहीं। इसी तरह सिर्फ व्यवहारिक मूल्य रहने पर ही कोई चीज को माल नहीं कहा जा सकता माल होने के लिये यानि बाजार में बिकने के लिये उसे इन्सान के मेहनत का फल होना चाहिये। जो चीज बिना मेहनत के आसानी से मिलता है उस चीज को कोई पैसे से नहीं खरीदता है यानि वह चीज माल नहीं बन सकता। माल की इस क्रय - विक्रय में योग्यता यानि विनिमय की क्षमता को विनिमय मूल्य कहा जाता है। कुछ-कुछ माल के विनिमय में दूसरे चीज कम मात्रा में खरीदा जा सकता है इनके विनिमय मूल्य कम हैं जिन मालों से ज्यादा मात्रा मे दूसरा चीज खरीदा जा सकता है। उनके विनिमय मूल्य भी बहुत ज्यादा है। विनिमय मूल्य पाने के लिये सिर्फ माल का व्यवहारिक मूल्य रहने पर ही नहीं होगा उसके उत्पादन के साथ मनुष्य का मेहनत भी जुड़ा रहना चाहिये। जिस माल को बनाने में जितना ज्यादा मेहनत लगता है उसका विनिमय मूल्य उतना ही ज्यादा होता है। मान लीजिये बाजार में एक धोती के बदले एक बोरी धान मिलता है तो हम ऐसे कह सकते हैं कि

एक धोती = एक बोरी धान

धोती और धान बराबर कैसे हुए ? इनके व्यवहारिक मूल्य भी एक नहीं है। धोती हम पहनते हैं, धान से चावल बनाकर खाते हैं, तो दोनों कैसे बराबर हैं ? इस बराबरी का अर्थ है विनिमय मूल्य की समानता। एक धोती का जो विनिमय मूल्य है, एक बोरी धान का भी उतना ही विनिमय मूल्य है। लेकिन इन दोनों के विनियम मूल्य कैसे बराबर हुए ? इस बराबरी का अर्थ है एक धोती बनाने में जितना श्रम लगा, एक बोरी धान पैदा करने के लिये उतना ही श्रम लगा। अगर एक धोती बनाने का श्रम से दो बोरी धान पैदा हो जाता है, तो एक धोती

दो बोरी धान के बराबर होगा। जिस माल के अन्दर जितना ज्यादा श्रम रहेगा, उसका विनिमय मूल्य उतना ही ज्यादा होगा।

लेकिन किसान के धान पैदा करने का श्रम के साथ बुनकर के कपड़ा बनाने का श्रम से कोई तुलना नहीं हो सकता है। किसान का श्रम और बुनकर का श्रम दो अलग-अलग किस्म के हैं, कैसे इन्हें हम बरावर कह सकते हैं। जैसे माल की दो अलग-अलग विशेषता होती है, वैसे ही श्रम के भी दो अलग-अलग रुप होते हैं। एक है श्रम का वास्तविक रुप और दूसरा उसका आम रुप। जब भी कोई श्रम किया जाये तो कुछ शारीरिक व मानसिक शक्ति खर्च होती है। जब हम श्रम को सिर्फ मेहनत के रुप में देखते हैं यानि सिर्फ शारीरिक व मानसिक शक्ति के व्यय के रुप में देखते हैं तो उसे आम श्रम या विमूर्त श्रम कहा जाता है। इसमें हम किसान के श्रम को खेती किसानी में लगे श्रम के रुप में या बुनकर के श्रम को कपड़ा बनाने के काम में लगे श्रम के रुप में नहीं देखते है, सिर्फ वे कितना मेहनत कर रहे हैं उसी को देखा जाता है। लेकिन वास्तव या साकार श्रम की दृष्टि से श्रम कैसे खर्च हो रहा है, उस पर ध्यान दिया जाता है, तब हम करघा में लगे श्रम को बुनकर का श्रम या खेती किसानी के लिए जरुरी श्रम को किसान का श्रम कहते हैं। आम रुप में देखा जाये तो इन दोनों में कोई फर्क नहीं है। सिर्फ मात्रा का फर्क यानि (कम या ज्यादा) हो सकता है, लेकिन वास्तविक श्रम की दृष्टि से बुनकर का श्रम बेशक अलग है। हम जब कहते हैं कि एक धोती वनाने का श्रम एक बोरी धान उगाने के श्रम के बराबर है तो हम श्रम के वास्तविक रुप से तुलना नहीं करते बल्कि आम रुप से तुलना करते हैं।

जैसे माल का व्यवहारिक मूल्य व बिनिमय मूल्य साथ-साथ होता है वैसे ही श्रम के दोनों रुप भी साथ ही साथ होता है, लेकिन माल का विनिमय मूल्य उसमें लगे आम श्रम के उपर ही निर्भर करता है।

लेकिन सिर्फ श्रम करने से ही मूल्य नहीं बनता है, यह श्रम समाज के लिए आवश्यक भी होना चाहिये, यानि श्रम से जो माल तैयार होगा वह समाज के किसी न किसी के कोई न कोई काम में लगना चाहिये। अगर किसी श्रम से कुछ न कुछ कमी पूरी नहीं होती तो वह श्रम बेकार होगा, उस श्रम से कोई विनिमय मूल्य नहीं बनेगा। क्योंकि उस श्रम से बने चीज को कोई नहीं खरीदेगा। मान लीजिये आप बहुत

मेहनत से एक मिट्टी की मूर्ति बनाये हैं लेकिन वह मूर्ति ऐसी बनी है कि उसे कोई खरीदने के लिये तैयार नहीं है, तो आपका श्रम जितना ही ज्यादा क्यों न हो वह समाज के लिये अनावश्यक होगा। ऐसे अनावश्यक श्रम से कोई मूल्य (विनिमय मूल्य) नहीं बनेगा, अर्थात समाज के लिये आवश्यक आम श्रम से ही मूल्य बनता है।

लेकिन समस्या उतनी आसान नहीं। मान लीजिये कि एक बुनकर बहुत कुशल और मेहनती है और दूसरा उतना कुशल नहीं है। कुशल बुनकर कम मेहनत से ज्यादा संख्या में कपड़ा बनाता है, और अकुशल बुनकर ज्यादा मेहनत कर कम संख्या में कपड़े बनाता है, तो कपड़ा का मूल्य कैसे तय होगा ? क्या कुशल बुनकर का कपड़ा कम श्रम से बना तो उसका मूल्य कम होगा ? कम कुशल बुनकर का कपड़ा ज्यादा मेहनत से बना तो उसका मूल्य ज्यादा होगा ? लेकिन एक ही किस्म के कपड़े के कीमत तो अलग-अलग नहीं हो सकते, तो मूल्य कैसे तय किया जाए ? किसी भी विशेष व्यक्ति के श्रम से मूल्य तय नहीं होता। मूल्य तय करने के लिये हर कपड़ा में औसत कितना श्रम लगता है, उसी से कपड़ा का मूल्य तय होगा। अगर औसत २४ घन्टा के श्रम से कपड़ा बनता है तो उससे कपड़ा का मूल्य तय होगा। मान लीजिये तीन कपड़े बनाय गये हैं, पहला कपड़ा बनाने में २ घन्टा का श्रम लगा है, दूसरा में तीन घण्टा का व तीसरा में चार घन्टा का श्रम लगा है, तो तीन कपड़े बनाने में कुल ९ घन्टा का श्रम लगा है। एक कपड़ा में औसत तीन घन्टा का श्रम लगा है तो हर कपड़ा का मूल्य तीन घन्टा के बराबर होगा, जो बुनकर २ घन्टे में कपड़ा बनाया उन्हें भी ३ घन्टे के श्रम के बराबर मूल्य मिलेगा और जिससे ४ घन्टे लगे हैं वह भी ३ घन्टे का मूल्य पायेगा। इस तरह औसत श्रम के समय से मूल्य तय होता है।

कोई श्रम सामाजिक रुप से आवश्यक है या नहीं वह हम तब तक समझ नहीं सकते जब तक उस श्रम से बना हुआ माल बाजार में हाजिर न हो। अगर माल सामाजिक रुप से आवश्यक है तो वह उसके मूल्य के दाम मे ही बिकेगा, अगर माल अनावश्यक है तो मूल्य से उसका दाम बहुत कम होगा। दाम कम होने पर यह समझना होगा कि श्रम कोई दूसरा माल उत्पादन में लगाना चाहिये। अगर किसी माल के लिए समाज को ज्यादा जरुरत होती है तो उसकी कीमत उसके मूल्य से ज्यादा होगा, तब यह समझना होगा कि दूसरा माल न बनाकर उसी माल को और ज्यादा मात्रा में बनाना चाहिये।

विनिमय और रुपया

आदिम युग में विनिमय नियमित रुप से नहीं होता था अचानक कभी कभी कुछ विनिमय हो जाता था। जैसे कि कोई शिकारीं किसान से मांस के बदले कुछ अनाज लिया, लेकिन धीरे-धीरे विनिमय बढ़ता गया। शुरु शुरु में विनिमय माल के बदले माल देकर होता था। तब इसान रुपये का इस्तेमाल नहीं जानता था। इस प्रकार के विनिमय को अंग्रेजी में बाटीर कहा जाता है। बाटीर का अर्थ है अदल-बदल। इस तरीके में कई दिक्कतें होती है, जैसे कि एक किसान को एक धोती चाहिये, उसके पास कुछ धान अतिरिक्त है तो उसे एक ऐसे आदमी को खोजना पड़ेगा जिसे धोती के बदले धान चाहिये। ऐसे एक व्यक्ति मिलनें तक वह कपड़ा खरीद नहीं सकता है, इसलिये जब विनिमय प्रथा नियमित रुप से चालू हुआ तो विनिमय की सुविधा के लिये ऐसा एक माल जरुरी हो गया जिसको कोई भी व्यक्ति किसी भी समय खरीदने के लिये तैयार है क्योंकि हरेक व्यक्ति को जरुरी है। जिस किसान को धान के बदले धोती खरीदना है, वह पहले धान के बदले एक गाय खरीद लिया और जिसे धोती के बदले गाय चाहिय वह गाय बेचा वह धोती खरीद लिया। तो पहले धान = धोती था,

अब धान = गाय = धोती हो गया।

अब व्यापार आसान हो गया। यह संभव हुआ क्योंकि गाय की मांग है, सभी लोग गाय खरीदना चाहते हैं, इस समय गाय रुपया का काम किया। जब जो चीज सब लोग चाहते थे, वही चीज रुपया जैसा काम किया। गाय, भेड़, घोड़ा, कुल्हाड़ी, कपड़ा, तांबा, लोहा, चांदी व सोना समय समय पर रुपया का काम किया, बाद में सोना और चांदी अन्य चीजों को हरा दिये क्योंकि बहुत दिन रखने पर भी ये खराब नहीं होते, इन्हें छोटे छोटे टुकड़ों में बांटा जा सकता है एवं इसके थोड़े से वजन में बहुत मुल्य रहता है। इसलिए अनेक रुपये साथ में लेकर घुमा जा सकता है। पचास रुपये के सामान खरीदकर अगर आप गाय के रुप में कीमत चुकाना चाहें तो मुश्किल है। गाय को आप काट नहीं पायेंगे, आपको एक ऐसे गाय की तालाश करनी पड़ेगी जिसकी कीमत पचास रुपये है। सोना, चांदी के रुप में सुविधा यह थी कि दुनिया के सभी लोग इन्हें लेनें

को राजी थे। शुरु-शुरु में सोना या चांदी तौलकर उससे सामान खरीदा जाता था, इसमें दिक्कत यह थी कि धातु असली है या नकली है। यह जांच करने की जरुरत होती थी, कुछ लोग यह जांच करते थे विनिमय में उनको कुछ कमाई भी होता था। इससे छुटकरा दिलानें के लिये राष्ट्र मुद्रा का प्रचलन किया गया, मुद्रा को तौलने या उसकी शुद्धता की जांच करने की जरुरत नहीं होती थी। बाद में कागज के मुद्रा का चलन हुआ। कागज के रुपये को लेन में सभी व्यापारी सहमत हुए, क्योंकि सरकार हर स्थिति में कागज के रुपये के बदले निश्चित परिमाण सोना चांदी देने की आश्वासन दी, लेकिन सरकार का जितना सोना चांदी होता था उससे ज्यादा कागज के रुपये छोड़े गये, क्योंकि कागज के रुपये पर लोगों का विश्वास इतना ज्यादा था कि बहुत कम लोग ही रुपये के बदले सोना या चांदी मांगते। थोड़े से सोना या चांदी से बहुत रुपये का धन्धा होने लगा।

रुपये का मुख्य काम विनिमय के माध्यम के रुप में है, इसके अलावा रुपये के कई और काम है। बाजार में माल का मूल्य रुपये में बताया जाता है, रुपया को मूल्य का तराजू माना जाता है, लेकिन यह तराजू स्थिर नहीं रहता या घटते बढ़ते रहता है तब हम इसे दाम कहते हैं। रुपया मूल्य को बचाकर भी रखता है, माल ज्यादा रखने पर खराब हो सकता है उसका मूल्य भी नष्ट हो जाता है लेकिन माल को रुपये में परिवर्तित किया गया तो उसका मूल्य खराब नहीं होता, रुपये के मूल्य नष्ट होने का डर कम होता है, रुपया हर समय सभी लोग लेने को तैयार रहते हैं, आवश्यतानुसार रुपये से माल खरीदा जा सकता है।

रुपया रहने के कारण उधारी में माल खरीदने बेचने की भी सुविधा होती है अगर बेचने वाला राजी हो तो खरीदने वाला अभी माल लेकर बाद में रुपये में कीमत दे सकता है। माल का विनिमय माल होने पर यह इतना आसान नहीं था।

तो रुपया का काम करीब-करीब चार प्रकार का है।

१) विनिमय का माध्यम होना
२) मूल्य का तराजू का होन
३) मूल्य को बचाकर रखना
४) लेन देन को आसान कर देना।

रुपये के कारण व्यापार में बहुत तरक्की हुई।

रुपये से जैसे कुछ सुविधायें है वैसे ही कुछ दिक्कतें हैं । रुपया एक पागल घोड़े जैसा है जिसे अपने अधीन रखना आसान नहीं है अगर एक बार वह नियंत्रण के बाहर चला जाए तो बहुत मुश्किल होता है, सब उत्पादन प्रणाली उलट-पलट जाती है । समाज में जितने रुपये की जरुरत है उससे ज्यादा रुपये अगर सरकार छाप देती है तो मालों का कीमत बहुत बढ़ जाता है इस स्थिति को मुद्रा स्फीति कहा जाता है। जितने रुपये की जरुरत है उससे अगर कम हो तो मालों का कीमत घट जाता है इस स्थिति को मुद्रा अवस्फीति या मुद्रा संकुचन कहा जाता है।

देश की सरकार कभी-कभी युद्ध जैसी आपात स्थिति को संभालने के लिये ज्यादा मात्रा में रुपया छाप देती है । युद्ध के जरुरी मालों के उत्पादन के लिये ज्यादा से ज्यादा रुपया कारखाना के मालिकों व ठकेदार को देते हैं । ठेकेदार फिर मजदूरों व कर्मचारियो को वेतन के रुप में देते हैं इस रुपये को लेकर वह बाजार में अपनी आवश्यकता की चीजों को खरीदने जाते हैं, लेकिन युद्ध के समय ज्यादा से ज्यादा कल-कारखानों में युद्ध के लिए जरुरी माल ही उत्पादित होते हैं । लोगों के जीवन यापन के लिए आवश्यक चीजों का उत्पादन कम होता है । खरीदने वाला पैसा लेकर बाजार जाने से भी उन्हें सामान नहीं मिलता। ग्राहकों के बीच आपसी होड़ शुरु हो जाती है । दुकानदार भी इस मौके पर सामान की कीमत बढ़ा देते हैं । रुपया ज्यादा छपने के कारण चीजों का मंहगा होना ही मुद्रा स्फीति है, मुद्रा स्फीति से व्यापारियों को बहुत फायदा होता है क्योंकि कोई भी चीज खरीदकर जमा करने पर ही उसकी कीमत बढ़ जाता है । व्यवसायी इसलिये जो थोड़ा बहुत अत्यावश्यक सामान बाजार में मिलता है उसे भी जमा कर लेता है और भारी रकम मिलन की आशा में वे उन्हें बेचना नहीं चाहते । मालों की कीमत और बढ़ने लगता है ।

इस स्थिति में जो लोग वेतन के भरोसे जीते हैं उन्हें बहुत ही तकलीफ होती है । मंहगाई बढ़ने के साथ साथ वेतन तो कुछ बढ़ता है लेकिन पहले १०० रुपये से वह जितना सामान खरीद सकता था वह अभी दो सौ पचास रुपये में भी नहीं मिलता है इसके कारण इन्हें भूखमर्री से दिन गुजारना पड़ता है । तो मुद्रा स्फीति के कारण एक तरफ व्यापारी और पूंजीपति अधिक धनवान हो जाते हैं, और गरीब लोग भूखमर्री से मरते हैं ।

अतिरिक्त मूल्य

पूंजीवाद से पहले जो माल तैयार होता था वह लोगों के इस्तेमाल करने के लिए उत्पादित होता था, विनिमय करके फायदा लूटने के लिये नहीं । थोड़ा बहुत जो विनिमय होता था वह भी कोई दूसरी जरुरी चीज को पाने के लिये, किन्तु पूँजीवाद के युग में विनिमय का मतलब ही बदल गया, सिर्फ फायदा के लिये विनिमय होने लगा । पहले-

माल -- रुपया -- माल था

अब रुपया -- माल -- रुपया हो गया है ।

यानि रुपये से व्यक्ति माल खरीदा और माल को फिर बेचा । माल बेचने से उसको फिर रुपया मिला, लेकिन बेचने से उसको जो रकम मिला वह खरीदने के रकम से ज्यादा है । व्यापार का मुख्य उद्देश्य अभी माल को पाना नहीं बल्कि ज्यादा रुपया यानि ज्यादा मुनाफा कमाना हो गया है । मान लीजिये एक पूँजीपति ५० रुपये में एक माल खरीदा और १२५ रुपये में उसको बेच दिया तो उसको ७५ रुपये फायदा हुआ । उसके ५० रुपये का पूंजी बढ़कर १२५ रुपये हो गया ।

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली में इसी प्रकार पूंजी बढ़ने को अतिरिक्त मूल्य कहा जाता है । हमारे उदाहरण में अतिरित मूल्य ७५ रु. है ।

लेकिन अतिरिक्त मूल्य आया कहां से ? आप सोंचते होंगे व्यापारी कम मूल्य से सामान खरीदकर ज्यादा मूल्य में बेचने से ही अतिरिक्त मूल्य बनता है, लेकिन अगर हम पूरे समाज पर ध्यान दें तो हम देखेंगे कि व्यापार के माध्यम से या अतिरिक्त मूल्य सृष्टि नहीं होता, मान लीजिये समाज में तीन पूँजीपति क, ख, ग एक माल के क्रय विक्रय में लगे हुए हैं ।

नाम	किससे खरीदा	किसको बेचा	कितने में खरीदा	कितने में बेचा	फायदा
क.	ख	ग	१०० रु.	११० रु.	= + १० रु.
ख.	ग	क	१०० रु.	१०० रु.	= ०
ग.	= क	ख	११० रु.	१०० रु.	= − १० रु.

क + ख + ग तीनों को मिलाकर कुल लाभ = ०

क, ख से १०० रुपये में माल खरीदा और ग को ११० रु. में बेचा, क को १० रु. फायदा हुआ। ख, ग से १०० रुपये में माल खरीदा और क को १०० रु. में बेचा तो उसको कोई फायदा नहीं हुआ। ग, क से ११० रु. में माल को खरीदा और ख को १०० रु. में बेचा तो उसे १० रु. नुकसान हुआ। तीनों को मिलाकर हम देखेंगे तो कोई अतिरिक्त मूल्य सृष्टि नहीं हुआ। इस व्यापार में सिर्फ ग के रुपये क के पास चले गये। विनिमय से मूल्य की सृष्टि नहीं होती, सिर्फ हस्तांतरण होता है, लेकिन हम देखते हैं कि समाज में कुल पूंजी का परिमाण बढ़ रहा है। कई पूँजीपति नुकसान के कारण दीवालिया हो रहे हैं, लेकिन अगर हम सभी पूंजीपतियों को हिसाब में लायें तो कुल मिलाकर इनकी पूंजी लगातार बढ़ रही है। क्रय विक्रय से कुल पूँजी बढ़ती नहीं है, क्रय-विक्रय में किसी किसी को नुकसान जरुर हो रहा है लेकिन जितना नुकसान एक व्यक्ति को हो रहा है उतना ही मुनाफा दूसरे व्यक्ति को हो रहा है, तो कुल पूंजी बढ़ती कैसे है ?

कुल पूँजी बढ़ाने के लिये पूंजीपति को ऐसा एक माल ढूंढ निकालना पड़ता है जिसे खरीदकर उसका मूल्य बढ़ाया जा सकता है। अगर किसी भी तरीके से उस माल का मूल्य बढ़ जाये तो उसको बेचने से उसको क्रय मूल्य से ज्यादा रुपया मिलेगा। इस तरीके से समाज को को कोई लाभ नहीं होता, बल्कि व्यक्ति को अपना मुनाफा होता है :

सिर्फ श्रम शक्ति ही एक ऐसा चीज है जिसका मूल्य ऐसे बढ़ाया जा सकता। पूंजीवादी समाज में श्रम एक माल जैसा बन जाता है, श्रमिक अपने श्रम शक्ति को ही सिर्फ बेच सकता है, इसके अलावा दूसरा उसके पास कोई उपाय नहीं है। कारखाना के मालिक श्रम शक्ति को खरीद लेता है और उसे काम में लगाता है। श्रम शक्ति को जब काम में लगाया जाता है तो उसे मेहनत कहा जाता है, श्रम शक्ति और मेहनत के बीच कुछ फर्क है। श्रमिक काम करे या न करे, उसके पास काम करने की क्षमता है, उसे श्रम शक्ति कहते हैं। जब श्रमिक इस श्रम शक्ति का उपयोग करता है तो वह मेहनत होती है। श्रम शक्ति एक माल है, मालिक उसे खरीदता है लेकिन इसका मूल्य कैसे तय होता है? अन्य माल का जैसे ही श्रम शक्ति का मूल्य तय होता है यानि श्रम शक्ति को बनाने में जितना श्रम लगता है उससे उसका मूल्य स्थिर होता है।

श्रमिक को जीने के लिये कई चीजों की जरुरत होती है जैसे चावल, दाल, तेल, मिर्च, कपड़ा, मकान, बच्चों की पढ़ाई का बन्दोबस्त, इलाज आदि। इन सबके लिए जितना खर्च होता है वह मजदूर का श्रम शक्ति का मूल्य है। मान लीजिये एक मजदूर दिन में ८ घण्टे काम करता है, ८ घण्टे के इस मेहनत से उसके शरीर को कुछ नुकसान पंहुचता है। इस नुकसान को पूरा करने के लिये उसको खाना की जरुरत होती है, कुछ घण्टे विश्राम लेना पड़ता है। सही मात्रा में खाना पीना व अन्य सुविधायें मिलने पर ही उसके पास ८ घण्टा काम करने के लिये आवश्यक श्रम शक्ति मिलती है, इस शक्ति को प्राप्त करने के लिये उसका जितना खर्च होता है, उसी से उसका श्रम शक्ति का मूल्य तय होता है, अगर हर रोज उसका १५ रु. खर्च होता है तो उसके श्रम शक्ति का मूल्य १५ रुपये हैं। यहां बताना जरुरी है कि मजदूर अपने लिये ही खर्च नहीं करता, बल्कि उसके पूरे परिवार के लिये जो खर्च होता है वह भी इस खर्च में सम्मिलित हो जाता है, क्योंकि मजदूर अपने परिवार की देखभाल नहीं करेगा तो परिवार वाले मर जायेंगे। भविष्य में पूंजीपति के कारखाने में मजदूर मिलेगा कहां से ? तब तो पूँजीवादी उत्पादन बन्द हो जायेगा। लेकिन परिवार का पूरा खर्च अकेला मजदूर नही संभालता उनके बीबी बच्चे भी इसमें हिस्सा लेते हैं और अपने खाने पीने का कुछ खर्च स्वंय जुगाड़ कर लेते हैं। इसलिये हम कह सकते हैं कि मजदूर अपनी एक दिन की श्रम शक्ति से अपने परिवार के एक हिस्से का देखभाल कर सकता है। यह खर्च कम ज्यादा होने से श्रम शक्ति का मूल्य कम-ज्यादा होते रहता है इसलिये चावल का भाव बढ़ने के साथ-साथ मजदूर की रोजी में भी बढ़ोतरी होती है, क्योंकि चावल की कीमत बढ़ने से मजदूर परिवार की देखभाल करने का खर्च भी बढ़ जाता है और एक दिन की श्रम शक्ति बनाने में उसको ज्यादा खर्च करना पड़ता है।

कुछ लोग थोड़े समय के काम में ही कठोर मेहनत कर सकते हैं और कई लोग इतने हल्के तरीके से काम करते हैं कि बहुत ज्यादा समय काम करन पर भी उसे श्रम की कठोरता महसूस नहीं होती, इसे श्रम का घनत्व कहा जाता है। थोड़ा समय के लिये कठोर श्रम करने पर घनत्व ज्यादा है, अगर श्रम हल्का है तो घनत्व कम है। मूल्य तय करते समय भी हम श्रम के घनत्व पर विचार करते हैं। घनत्व का भी औसत को लिया जाता है।

इसलिये हम कह सकते है कि सामाजिक रुप से आवश्यक आम श्रम का औसत कुशलता व घनत्व से ही माल का मूल्य बनता है। इस श्रम को समय के आधार पर मापा जाता है, जितने ज्यादा घन्टे श्रम किया जायेगा उतना ही ज्यादा मूल्य बनेगा तो कोई भी चीज का मूल्य कितना होगा व उस चीज को बनाने में कितने घन्टे का सामाजिक श्रम लगा उसी के उपर।

लेकिन कोई भी माल जब बाजार में पहुंचता है तो हम यह नहीं कहते कि इसका मूल्य १६ घन्टे के सामाजिक रुप से आवश्यक श्रम है, दूसरे मालों से तुलना करके माल का मूल्य तय किया जाता है, जैसे कि हमारे उदाहरण में एक धोती एक बोरी धान के बराबर हैं। रुपये पैसे का प्रचलन रहने पर उसी से मूल्य को बताया जाता है। रुपये पैसे से मूल्य मापने पर उसे दाम कहा जाता है, जैसे कि एक धोती की कीमत २० रु. है लेकिन दाम हर वक्त मूल्य को सही रुप से माप नहीं पाता है क्योंकि दाम सिर्फ मूल्य के उपर निर्भर नहीं करता हैं, वह बाजार में माल की मांग और आयात पर भी निर्भर करता है। बाजार में यदि एक ही किस्म के माल ज्यादा संख्या मे आ जाता है, तो माल बेचने वालों के बीच आपसी होड़ होता है, हरेक बेचने वाला अपने माल को बेचना चाहता है। ग्राहक की संख्या कम होने के कारण माल का दाम कम कर देता है, तो माल का आयत ज्यादा होने पर दाम गिर जाता है मांग ज्यादा होने पर दाम बढ़ जाता है, क्योंकि ग्राहक भी माल खरीदने के लिये आपसी होड़ में लग जाता है। ऐसे दाम गिरते बढ़ते हैं लेकिन फिर भी दाम मूल्य के नजदीक रहता है। उदाहरण के लिए मान लीजिये बाजार में कुछ किताब और पेन्सिल बिक्री होगी। बाजार में दस किताब आये है और मांग भी उतनी ही है। पेन्सिल की संख्या भी दस है और मांग भी दस हैं तो क्या पेन्सिल और किताब के दाम बराबर होंगे ? नहीं।

क्योंकि किताब बनाने में ज्यादा श्रम लगा है तो उसका मूल्य ज्यादा है, पेन्सिल बनाने में श्रम कम लगा है तो उसका मूल्य कम है। अगर किताब की मांग ज्यादा बढ़ जाती है और आयात कम हो जाता है तो किताब का मूल्य से उसका दाम कुछ ज्यादा होगा, अगर मांग कम और आयात ज्यादा है तो दाम मूल्य से कुछ कम होगा। मांग और आयात बराबर होने पर मूल्य और दाम दोनों बराबर होंगे।

पूंजीवाद युग में दस्तकार और किसान अपने जमीन, औजार आदि सब कुछ खो बैठते हैं और सर्वहारा वर्ग में शामिल हो जाते हैं। जमीन जायदाद, मकान सब खोकर वे कारखाने में काम करने लग जाते हैं। लेकिन इसके बावजूद उसका मजदूर का शरीर उसके खुद का रह जाता है। गुलामी समाज से पूँजीवादी समाज का यही फर्क है, गुलामी समाज में अपने शरीर पर मजदूर का कोई अधिकार नहीं रहता था, गुलाम के शरीर को भी मालिक अपना संपत्ति समझता था। मालिक गुलाम के शरीर का देखभाल करता था क्योंकि गुलाम दुबला होने से मालिक को नुकसान पहुंचता था। पूँजीवादी समाज में मजदूर स्वतंत्र है, वह खुद अपने शरीर को बनाता है। मालिक मजदूर को नहीं बल्कि उसके श्रम को खरीदता है। मजदूर कारखाने में एक दिन काम करने से मालिक उसे एक दिन का रोजी देता है। श्रमिक के पास श्रम शक्ति ही एक मात्र सम्पदा है जिसे वह बेच सकता है।

लेकिन श्रम शक्ति का एक विशिष्टता है जो और किसी के नहीं है। श्रम शक्ति को एक दिन काम में लगाकर जो मूल्य प्राप्त किया जाता है वह श्रमशक्ति के मूल्य से ज्यादा हो सकता है। जैसे कि मजदूर का एक दिन का श्रम शक्ति का मूल्य १५ रुपये है लेकिन इस श्रमशक्ति को इस्तेमाल कर हम १५ रुपये से ज्यादा मूल्य प्राप्त कर सकते हैं। पूंजीपति ऐसे ही अतिरिक्त मूल्य की सृष्टि करता है।

अब हम देखेंगे कि कैसे अतिरिक्त मूल्य बनता है। मान लीजिये एक कपड़ा मिल के मालिक कपड़ा बनाने के लिए ८ घण्टा १५ रुपये की दर से श्रम शक्ति खरीदा। इसके अलावा रुई, अन्य कच्चा माल मशीन आदि भी खरीदा। कपड़ा बनाने के बाद देखा गया कि रुई का जो कीमत था वह कपड़ा बनाने में चला गया, मशीन का कुछ नाश हुआ और वह भी कपड़ा के अन्दर आ गया, लेकिन इन सबसे नया मूल्य सृष्टि नहीं हुआ, पहले मशीन और रुई के अन्दर जो मूल्य था वह कपड़े के अन्दर आ गया। नया मूल्य जो बना वह श्रम शक्ति खर्च करने से ही सृष्टि हुआ, क्योंकि श्रम शक्ति ही एक ऐसा माल है जिसे काम में लगाने मे नया मूल्य सृष्टि होता है, वह अपने मूल्य के अलावा अतिरिक्त मूल्य बनाता है। अगर मजदूर कारखाना में ८ घण्टा काम करता है तो हो सकता है ४ घन्टा में ही वह अपने श्रम का मूल्य बना लेता है और बाकी ४ घन्टा कारखाना मालिक के लिये काम

करता है । इस ४ घन्टे में वह जो मूल्य बनाता है वह मालिक का ही होता है, इसके लिए मजदूर को कोई वेतन नहीं मिलता, यही अतिरिक्त मूल्य है ।

मान लीजिये वह श्रमिक ४ घन्टे के मेहनत से अपने श्रम शक्ति का मूल्य बना लेता है यानि एक घन्टे में १५/४ रुपये यानि ३ रु. ७५ पैसे का मूल्य बनाता है । मान लीजिये हर घन्टा में कच्चा माल का जो मूल्य कपड़ा से आ जाता है वह १ रुपये ९५ पैसे है और हर घन्टा में मशीन का जो मूल्य कपड़ा में आ जाता है वह १ रु. ८० पैसे है तो एक घन्टा में जो कपड़ा बना उसका मूल्य –

मेहनत–	३ रु. ७५ पैसे
कच्चा माल–	१ रु. ९५ पैसे
मशीन	१ रु. ८० पैसे
कुल–	७ रु. ५० पैसे

यानि हर घन्टे में ७ रुपये ५० पैसे का मूल्य बनता है । ८ घन्टे में बनता है ७.५० × ८ = ६०.०० रुपय का मूल्य, लेकिन ८ घन्टे में मालिक का खर्च इस प्रकार है –

मजदूर का रोजी–	१५.०० रु.
कच्चा माल–	१५.६० रु.
मशीन–	१४.४० रु.
कुल--	४५.०० रु.

यानि कारखाना का मालिक ४५ रुपये से ६० रुपये का मूल्य बनाता है । अर्थात हर श्रमिक से रोज वह १५ रुपये मुनाफा करता है, यदि उसके कारखाने में ५०० मजदूर हों तो रोज उसको – ५०० × १५ = ७५०० का अतिरिक्त मूल्य बनेगा ।

श्रम शक्ति अपना मूल्य से अतिरिक्त मूल्य जो मूल्य बनाता है वही मालिक के मुनाफा का मुख्य कारण है ।

अतिरिक्त मूल्य की दर

हम देख चुके हैं कि अतिरिक्त मूल्य के पीछे दो कारण हैं – १. श्रम शक्ति अपने मूल्य से ज्यादा मूल्य सृष्टि कर सकता है, २. मजदूर मजबूर होकर पूंजीपतियों के पास अपनी श्रम बेचते हैं । श्रमिक पूंजीपति के पास अपने श्रम बेचता है क्योंकि उसके पास उत्पादन के औजार नहीं रहता है, पूंजीपति के पास ही उत्पादन के औजार जैसे कि जमीन, खदान, कारखाना, मशीन, कच्चा माल आदि के एकाधिकार है । पूंजीपति अपने उत्पादन के औजारों को अतिरिक्त मूल्य बनाने के काम में लगा देता है । उत्पादन के जिन औजारों से अतिरिक्त मूल्य बन सकता है, उसे भी पूंजी कहते है ।

पूंजी दो किस्म की होती है – परिवर्तनशील पूंजी व अपरिवर्तनशील पूंजी । कारखाना के मालिक अपनी पूंजी से दो किस्म के चीज खरीदता है – १. श्रम शक्ति और २. कच्चा माल, मशीन आदि । दूसरी किस्म कें चीजों के मूल्य में कोई परिवर्तन नहीं होता । इनके मूल्य उत्पादित माल के मूल्य में सम्मिलित हो जाता है । इन्हें अपरिवर्तनशील पूंजी कहा जाता है । लेकिन श्रमशक्ति के लिये जो खर्च होता है उससे माल का मूल्य बढ़ जाता है । कारखाना मालिक अपनी पूंजी के जिस हिस्से को मजदूरों को वेतन के रुप में देता है, उसे परिवर्तनशील पूंजी कहा जाता हैं ।

हम पहले देख चुके है कि मजदूर अपनी श्रम शक्ति का मूल्य से जितना ज्यादा मूल्य बनाता है उतना ही ज्यादा अतिरिक्त मूल्य पूंजीपति को मिलता हैं ।

मजदूर जितना समय काम करता है उसे दो हिस्सों में बांटा जा सकता है । पहली हिस्से में मजदूर अपनी श्रम शक्ति के मूल्य के समान मूल्य के माल बनाता है और दूसरी हिस्से में वह मालिक के लिये अतिरिक्त मूल्य सृष्टि करता हैं । पहले हिस्से को आवश्यक श्रम समय व दूसरे हिस्से को अतिरिक्त श्रम समय कहा जाता है ।

अतिरिक्त मूल्य सृष्टि कई विषयों पर निर्भर करती हैं। प्रथमतः मजदूर जितना ज्यादा समय काम करेगा उतना ही ज्यादा अतिरिक्त मूल्य बनेगा। द्वितीयतः आवश्यक श्रम समय जितना ज्यादा होगा अतिरिक्त मूल्य बनाने का समय उतना ही कम होगा। इसलिये पूंजीपति आवश्यक श्रम समय कम करने की कोशिश करता है। आवश्यक श्रम समय कम करने के दो तरीके हैं। पहला तरीका है श्रम शक्ति का मूल्य कम कर देना। श्रमशक्ति का मूल्य कम कर देने से मजदूर कम समय में ही अपनी श्रमशक्ति का समान मूल्य बना लेगा और बाकी समय वह अतिरिक्त मूल्य बनायेगा। उदाहरण के मान लीजिये श्रमशक्ति का मूल्य १ रुपया है, १ रुपया का मूल्य तैयार करने में मजदूर को ४ घण्टे लगते है। यदि किसी तरीके से श्रमशक्ति का मूल्य ५० पैसे हो जाता है तो मजदूर दो घण्टे में अपनी श्रमशक्ति का समान मूल्य बना लेगा। कारखाना में वह जो ८ घण्टे काम करता है उसमे से ८-२ = ६ घण्टे वह अतिरिक्त मूल्य बनायेगा।

अब सवाल है कि श्रमशक्ति के मूल्य को कैसे कम किया जा सकता है। हम देखे हैं कि श्रमशक्ति का मूल्य जीने की ढंग पर निर्भर करता है मजदूर अगर शौक से जीना चाहता है तो उसका खर्च ज्यादा होगा व श्रमशक्ति का मूल्य भी ज्यादा होगा। जीने का खर्च अगर कम होता है तो श्रमशक्ति का मूल्य भी कम होगा। चांवल, दाल, तेल, नमक, कपड़ा, मकान किराया आदि के बाबत मजदूर का खर्च होता हैं। अगर इनके मूल्य कम हो गये तो श्रमशक्ति का मूल्य भी कम होगा। लेकिन ये सभी चीज सस्ता तभी होगा जब इन्हें बनाने में मेहनत कम लगेंगे। उद्योग की तरक्की या सस्ता में विदेश से आयात करने पर ये सस्ते हो सकते हैं।

आवश्यक श्रम समय कम करने का दूसरा तरीका है श्रम का घनत्व बढा देना यानि एक ही समय में मजदूर से ज्यादा मेहनत करवाना श्रम का घनत्व बढ़ाने से आवश्यक श्रम समय कम हो जाता है, मशीन से यह काम होती है। मशीन का काम ही है श्रम का घनत्व बढ़ाना, मजदूर को मशीन की गति के साथ चलना पड़ता है। नयी-नयी मशीन और तकनीक आविष्कार से मजदूर का श्रम का घनत्व बढ़ता जाता है।

तो अतिरिक्त मूल्य यानि शोषण बढाने के तीन तरीके हैं-

१) काम का समय बढ़ा देना,

२) श्रम शक्ति का मूल्य यानि रोजी कम कर देना,

३) श्रम का घनत्व बढ़ा देना।

अतिरिक्त मूल्य का कुल मात्रा को बढ़ाने के लिये मजदूरों की संख्या को बढ़ाना पड़ता है।

मजदूरी (रोजी)

श्रमशक्ति को मजदूर जब बेचता है तो उसे जो कीमत मिलती है उसे मजदूरी (रोजी) कहा जाता है। लेकिन श्रमशक्ति का कीमत हर समय श्रमशक्ति का मूल्य के बराबर नहीं होता। श्रमशक्ति की कीमत यानि मजदूरी श्रमशक्ति का मूल्य से ज्यादा या कम हो सकता है। अगर मजदूर एकजुट व संगठित है तो मालिक उन्हें उचित श्रम मूल्य देने को मजबूर होता है। लेकिन अगर मजदूर के बीच काम के लिये होड़ चले तो मालिक कम मजदूरी से काम ले सकता है। यानि श्रम मूल्य से भी कम कीमत में मालिक श्रमशक्ति खरीद सकता है। कारखाना मालिकों के बीच होड़ रहने पर भी मजदूरी ज्यादा होती है। श्रमशक्ति का मूल्य श्रमिक द्वारा व्यवहृत चीजों के मूल्य पर निर्भर करता है। अलग-अलग वर्ग के लोग अलग-अलग ढंग से जीते हैं, अलग-अलग चीजें इस्तेमाल करते हैं, उनके खाना-कपड़ा वगैरह अलग-अलग होते हैं और ये सब चीज न मिलने पर उसे बहुत तकलीफ होती है। अगर मजदूर को ऐसी मजदूरी दी जाय कि वह ये सब खरीद न सके तो वह अपने काम को छोड़कर ज्यादा मजदूरी वाले काम को पाने की कोशिश करेगा। हर रोज व्यक्ति जिन चीजों का इस्तेमाल करता है उन पर उसका जीवन-स्तर तय होता है। सिर्फ खाना-पीना एवं कपड़े से व्यक्ति का जीवन-स्तर तय नहीं होता। ऐसे कई चीजें होते हैं जिनके न रहने पर जीना नामुमकिन हो जाता है। जैसे कि खाद्य,

कपड़ा, मकान आदि जिन्हें जीने के लिये आवश्यक चीज कहा जाता है। पान, तम्बाकू, बीड़ी, सिगरेट जैसे कुछ चीजें जिनके कुछ लोग आदी होते हैं, ये चीजें न मिलने पर इन्हें बहुत तकलीफ महसूस होती है। इन चीजों को आदत के कारण आवश्यक चीज कहा जा सकता है। इसके अलावा और बहुत से चीज होते हैं जो न रहने पर आदमी मरते तो नहीं, लेकिन इनके मिलने पर उनकी काम करने की क्षमता बढ़ जाती है। जैसे कि अण्डा, दूध आदि। इन चीजों को कार्यक्षमता के लिये आवश्यक कहा जाता है। व्यक्ति का जीवन स्तर इन तीन प्रकार के चीजों पर निर्भर होता है। मजदूर और उसके परिवार का जीवन स्तर एक ही होता है। श्रमशक्ति का मूल्य जीवन स्तर से तय होता है।

मजदूरी दो तरीके से दिया जा सकता है, १/ काम के समय के अनुसार (रोज या साप्ताहिक या पाक्षिक या मासिक) २/ उत्पादित माल के अनुसार। लेकिन मजदूर को जब मजदूरी दिया जाता है तो उसे समझाया जाता हैं कि तुम्हें पूरा समय का वेतन मिल रहा हैं। असल में मजदूर हर रोज कुछ समय मालिक के लिये बेगार श्रम करता है इस सच को मजदूर से छुपाया जाता है।

यांत्रिक संगठन और मुनाफा की दर

पहले ही हम देख चुके है कि श्रमशक्ति को खरीदकर कारखाना में मालिक अतिरिक्त मूल्य बनाता हैं। अतिरिक्त मूल्य श्रमिक बनाता है, लेकिन सिर्फ मालिक का हक इस पर है और यह ही मालिक का मुनाफा। अतिरिक्त मूल्य बढ़ने पर मालिक का मुनाफा बढ़ता है।

लेकिन मुनाफा की दर मापने के समय मालिक कुल पूंजी के साथ अतिरिक्त मूल्य की तुलना करता है, जबकि उसे सिर्फ परिवर्तनशील पूंजी से तुलना करना चाहिए। इसलिये मुनाफा की दर अतिरिक्त मूल्य की दर से काफी कम दिखती है।

मान लीजिये एक मालिक की कुल पूंजी १०,००० रुपये है, इसमें से वह ९,५०० रुपये मशीन, कच्चा माल आदि अपरिवर्तनशील पूंजी

के लिये खर्च करता है और बाकी ५०० रुपये श्रमशक्ति यानि परिवर्तनशील पूंजी पर खर्च करता है। मान लीजिये मजदूर जितना समय काम करता है, उसका आधा समय वह श्रमशक्ति का मूल्य बनाता है। तो मालिक अगर ५०० रुपये वेतन के लिये खर्च करता है, तो श्रमिक और ५०० रुपये अरिक्त मूल्य बनाता है। तो मुनाफा की दर असल में शत-प्रतिशत रही। इस दर को हम शोषण की दर कह सकते हैं, क्योंकि इससे हम समझ सकते हैं कि कितना वेतन मजदूरों को दिया जा रहा है और मजदूरों का उत्पादित मूल्य कितना मालिक के पास जा रहा है।

लेकिन पूंजीपति मुनाफा की दर निकालते समय देखता है कि कितने रुपये वह धंधा में लगाया था और उसको कितना मुनाफा हुआ। यानि वह कुल अतिरिक्त मूल्य के साथ कुल पूंजी की तुलना करता है। उपर का उदाहरणार्थ मालिक के कुल पूंजी १०,००० रुपये और कुल अतिरिक्त मूल्य ५०० रुपये। तो पूंजीपति के हिसाब में उसका मुनाफा सिर्फ ५ प्रतिशत। इस मुनाफे की दर को देखकर शोषण की मात्रा समझ में नहीं आती।

उत्पादन में लगे कुल पूंजी के परिवर्तनशील हिस्से की तुलना में अपरिवर्तनशील हिस्से की मात्रा को उत्पादन का यांत्रिक (मशीनी) संगठन कहा जाता है। उपर के उदाहरण में अपरिवर्तनशील पूंजी = ९५०० रुपये, परिवर्तनशील पूंजी = ५०० रु. और यांत्रिक संगठन $= \frac{९५००}{५००} = १९$

मुनाफा की दर दो चीजों पर निर्भर करती है।

क/ अतिरिक्त मूल्य की दर – अतिरिक्त मूल्य जितना ज्यादा होगा मुनाफा भी उतनी ही अधिक होगी।

ख/ मशीनी संगठन – मशीनी संगठन अगर बढ़ेगा तो मुनाफे की दर कम हो जायेगी और मशीनी संगठन कम होगा तो मुनाफे की दर बढ़ेगी। क्योंकि अतिरिक्त मूल्य से ही मुनाफा बनता है। एवं श्रमशक्ति से ही बनता है अतिरिक्त मूल्य। मशीनी संगठन बढ़ाने का मतलब होता है, ज्यादा मशीन व कम मजदूर। कम मजदूर यानि कम श्रमशक्ति होने पर कम अतिरिक्त मूल्य बनेगा, मुनाफा कम होगी,

मुनाफा की दर का कम होना पूंजीवादी उत्पादन प्रथा की एक विशेषता है ।

मशीनी संगठन के कारण मुनाफा की दर कम होने पर कुल मुनाफा कम हो जाती है । लेकिन पूंजीवादी उत्पादन प्रथा का मुख्य उद्देश्य ही तो है मुनाफा । मुनाफे की दर अगर कम होती जाती, फिर भी कुल मुनाफा को ठीक रखने का एक उपाय हो सकता है – मुनाफा जिस दर से कम हो रहा है, उससे ज्यादा दर पर पूंजी बढ़ाने से कुल मुनाफा ठीक रहेगा ।

तो मुनाफा को ठीक रखने के लिये पूंजीपति को कुल पूंजी बढ़ाते रहना पड़ता है । लेकिम इससे हालत नहीं सुधरती । फिर एक मुसीबत खड़ा हो जाता है । पूंजी बढ़ने के कारण मशीनी संगठन भी बढ़ते जाता है और मुनाफे की दर फिर घटती जाती है । यही है पूंजीवादी उत्पादन प्रथा का संकट । क्योंकि पूंजी बढ़ाने का भी एक सीमा होता हैं। जब और पूंजी बढ़ाना असंभव हो जाता है तो उत्पादन में रुकावट आ जाती है, अनेक कारखाने बन्द हो जाते हैं, अनेक श्रमिक बेरोजगार हो जाते हैं । इसे व्यवसाय संकट भी कहा जाता है ।

ब्याज की दर और बैंक

पूंजीपति को कमाई मुनाफा से और श्रमिक को उसकी श्रम-शक्ति को बेचने से होती है। लोग अपनी कमाई को पूरा खर्च नहीं करते, वे थोड़ा बहुत बचत करने की कोशिश करते हैं । जिनकी कमाई बहुत कम है, उसके लिये तो बचाना बहुत ही मुश्किल है । लेकिन कमाई कुछ ज्यादा होने पर ही लोग बचत करने की कोशिश करते हैं । अलग-अलग जमाने के लोगों का मकसद अलग अलग होते हैं । जिनकी कमाई लाखों-करोड़ों में है, वे बचत करते हैं क्योंकि इतने रुपये वे खर्च नहीं कर सकते । दुनिया की कुल बचत का ज्यादातर हिस्सा इनके ही होता है । भविष्य की अनिश्चितता से बचने के लिये कम कमाई वाले लोग जो बचत करते हैं, उनकी कुल मात्रा बहुत ही कम होती है । अचानक बेरोजगार या बीमार होने पर कुछ सहारा के रुप में ये बचत करते हैं ।

अब आमतौर पर लोग रुपये-पैसे बैंक में जमा करते है क्योंकि इससे दो सुविधायें होती है–

क/ रकम चोर-डाकू से सुरक्षित रहता है ।

ख/ बैंक कुछ ज्यादा ब्याज देता है ।

जमा रकम को अमानत कहा जाता है । बैंक लेकिन ये रुपये अपने पास नहीं रखते, वे व्यापारी व उद्योगपतियों को कर्ज के रुप में देते हैं । अमानतदारों को बैंक जितना ब्याज देता है उससे ज्यादा दर से उद्योगपतियों को कर्ज दिया जाता है । इससे बैंक को मुनाफा होता है । उद्योगपति या व्यापारी इस पैसे को व्यवसाय में लगाते हैं । उद्योगपति श्रमशक्ति खरीदकर या शोषण के जरिये जो अतिरिक्त मूल्य बनाता है, उससे बैंक को ब्याज देता है ।

ब्याज की दर तय होती है, उद्योगपतियों की पूंजी की मांग और बैंक के आयात पर । अगर मालिकों को ज्यादा मुनाफा होती है, तो वे ज्यादा पूंजी धंधा में लगाना चाहते हैं । बैंक भी इस मौके में ब्याज की दर बढ़ा देता है और अतिरिक्त मूल्य का एक बड़ा हिस्सा ले लेता है । लेकिन नुकसान यानि कम मुनाफा होने पर कारखाना मालिक ज्यादा पूंजी नहीं लगाना चाहते हैं । इससे पूंजी की मांग घट जाती है और बैंक में रुपये पड़े रहते हैं । इससे बैंक की नुकसान होती है, क्योंकि रुपये बैंक में जमा रहने पर अमानतदारों को तो ब्याज देना ही पड़ता है । इस समय बैंक ब्याज की दर कम कर देता है, ताकि मालिक लोग ब्याज की दर कम देखकर रुपये कर्ज लें ।

इसी तरह बैंक में अगर लोग ज्यादा रकम जमा करते हैं तो बैंक अमानतदारों को देने वाले ब्याज की दर कम देता है, बैंक में तब अमानत कम हो जाता है । फिर अमानत जब माँग से कम हो जाता है तो बैंक फिर ब्याज की दर बढ़ा देता है । इसी तरह अतिरिक्त मूल्य का कितना हिस्सा बैंक को मिलेगा और कितना हिस्सा मालिक को वह तय होता है ।

सिर्फ कर्ज देना या रुपये जमा करना ही बैंक का काम नहीं वल्कि चेक प्रथा चलाना भी उसका काम है। रुपये जमा करने पर अमानतदार को एक चेक पुस्तिका दी जाती है। अमानतदार कोई चीज खरीद कर उसकी कीमत चेक में लिखकर दस्तखत करके विक्रेता को दे देता है। विक्रेता को नगद रुपये के बदले चेक मिलता है। चेक बैंक पर अमानतदार का एक आदेश है कि चेक में जिसका नाम लिखा है, उसको चेक में लिखी रकम दी जाय। चेक मिलने पर बैंक अमानतदार के बचत रुपये से चेक में लिखी रकम लेकर विक्रेता को दे देता है। अगर विक्रेता को वह तत्काल जरुरी न हो तो वह उस राशि को बैंक में ही अपने अमानत में जमा कर सकता है।

चेक द्वारा जो लोग व्यापार करते हैं अकसर बैंक में उनके अमानत रहते हैं। कुछ बेचकर चेक मिलने से ही वे बैंक में चेक जमा कर देते हैं। इस प्रकार के व्यापार में नगद रुपये की कम ही जरुरत होती है। सिर्फ खरीदने वाले के अमानत से रकम काटकर बैंक बेचने वाले के नाम पर लिख देता है। इससे दो सुविधायें होती है– १. व्यापार सरल हो जाता है, २. व्यापार में नगद रकम कम लगती है,। चेक द्वारा व्यापार को बैंक क्रेडिट प्रथा कहा जाता है।

बैंक क्रेडिट प्रथा रहने पर बैंक में जितने रुपये जमा हैं, उससे ज्यादा रुपये बैंक कर्ज दे सकता है क्योंकि चेक द्वारा व्यापार होने के कारण नगद रुपये की जरुरत कम होती है। जो बैंक से कर्ज लेता है बैंक उसे सिर्फ एक चेक पुस्तिका दे देता है। वह अपनी जरुरत के चीजें खरीद कर चेक द्वारा कीमत चुका देता है। फिर चेक बैंक में आकर बेचने वाला का अमानत में जमा होता हैं। इस तरह नगद एक पैसा न रहने पर भी बैंक हजारों रुपये कर्ज दे सकता है और उसी तरीका से बैंक को सबसे ज्यादा मुनाफा होता है। लेकिन बैंक को भी कुछ रकम अपनी पास रखनी पड़ती हैं, क्योंकि कुछ चेक के मालिक चेक के बदले नगद रकम माँगते भी हैं। नगद रकम माँगने पर बैंक यदि नहीं दे सका तो झण्झट है। इसलिये बैंक अपने पास कुछ रुपये रिजर्व रकम के रुप में रखता है।

भूमि कर

समाज के उत्पादन के साधनों में से जमीन एक महत्वपूर्ण साधन है। क्योंकि जीने के लिए इंसान को खाद्य चाहिए और ज्यादा से ज्यादा किस्म के खाद्य जमीन में ही बनते हैं। उत्पादन के दूसरे साधनों के साथ जमीन की खास कुछ फर्क नहीं है। दूसरे साधनों में मानव श्रम का महत्व ज्यादा है प्रकृति की देन कम है। लेकिन जमीन में प्रकृति की देन ही ज्यादा महत्वपूर्ण है, मानव श्रम का महत्व कम है। दूसरे साधनों को इच्छा के मुताबिक घटाया-बढ़ाया जा सकता है। लेकिन जमीन की मात्रा या उर्वरता को इस तरह बढ़ाना सम्भव नहीं हैं

पूंजीवाद के बहुत पहले से ही जमीन पर जमींदारों का एकाधिकार था। इस एकाधिकार के कारण वे जमीन से उत्पादित मूल्य का एक हिस्सा को कर के रुप में लेते थे इसको भूमिकर या भूराजस्व कहा जाता है। जमीन कितना उपजाऊ है और उसमें कितना ज्यादा अतिरिक्त अनाज उगाया जाता है, इस पर ही राजस्व की दर तब होती है।

मान लीजिये बराबर क्षेत्रफल के दो टुकड़े जमीन है "अ" व "आ", दोनों में ही बराबर मेहनत किया गया। लेकिन "अ" उपजाऊ जमीन होने के कारण उसमें १० क्विंटल अनाज हुआ और अनुपजाऊ 'आ' में ५ क्विंटल अनाज हुआ। बाजार में इस अनाज का कीमत ऐसा होना चाहिये जिससे 'आ' जमीन की खेती का खर्च व मुनाफा निकल आये। आमतौर पर पूंजी पर मुनाफा की दर जितनी होती हैं, इस मुनाफा की दर भी उतनी ही होनी चाहिए। खेती के खर्च में बीज का कीमत, बैल, हल, खाद, सिंचाई, बनिहारों की रोजी, अनाज बाजार में लाने का खर्च आदि तो सम्मिलित है ही, किसान के खुद की रोजी एवं खेती में काम करने वाले परिवार के बाकी लोगों की रोजी भी सम्मिलित हैं इस प्रकार मान ले 'अ' में खेती खर्च हुआ २३०० रुपये, किसान २३०० रुपये पूंजी से २०० रुपये मुनाफा चाहता है। तो ५ क्विंटल अनाज बेचने से कम से कम २५०० रुपये किसान के पास पहुंचना चाहिए यानि मंडी में एक क्विंटल अनाज की कीमत ५०० रुपये होना चाहिए। अगर कीमत ५००

रुपये से कम है, तो 'आ' जमीन मे खेती करना किसान के लिए अलाभजनक होगा, वह 'आ' जमीन को छोड़ देगा । कीमत ५०० रुपये से ज्यादा होने पर 'आ' से भी अनुपजाउ जमीन में खेती कर मुनाफा किया जा सकता है ।

प्रति क्विंटल अनाज का कीमत ५०० रुपये होने पर मंडी में अनाज बेच कर 'अ' जमीन का किसान की कमाई होगी १०×५००=५००० रुपये । यानि 'अ' जमीन का किसान की अतिरिक्त कमाई ५०००-२५०० = २५०० रुपये ।

लेकिन इस अतिरिक्त २५०० रुपये वह अपने पास नहीं रख पायेगा । क्योंकि अन्य किसानों भी उपजाऊ 'अ' जमीन को पाने के लिये जमीनदार के पास जायेगें । जिस किसान ज्यादा कर देगा, 'अ' उसी को मिलेगा । किसानों की इस आपसी होड़ में जमीन का कर २५०० रुपये तक हो सकता है । कर २५०० रुपये से ज्यादा नहीं होगा, क्योंकि तब किसान का घाटा होगा, किसान उस जमीन को छोड़ देगा ।

लेकिन भूमिकर अतिरिक्त कमाई के बरावर तब ही होगा जब (क) किसानों की आपसी होड़ चल रही है या (ख) जमींदार ज्यादा कर माँगने से किसान दूसरा जमीन चुनने की या खेती-किसानी के अलावा दूसरा काम करने की स्थिति में है ।

भारत एक कृषि प्रधान देश है और इसकी जनसंख्या भी बहुत ज्यादा है, इसलिये किसानों की आपसी होड़ अक्सर लगी रहती है। लेकिन खेती-किसानी को छोड़ किसानों को करने लायक काम मिलना भी मुश्किल है और कुल कृषि-भूमि भी कम है । इस हालत में जमींदार कर रुप में अतिरिक्त कमाई को तो लेता ही है, स्वाभाविक मुनाफा, यहाँ तक कि उससे भी ज्यादा ले लेता है । किसान के लिए जीना हराम हो जाता है, कुछ ही दिनों में वह दिवालिया बन जाता है ।

पूंजीवादी युग में नये नये मशीन अतिक्रमण होने के कारण व्यापार-संकट होता है, लाखों हजारों लोग बेरोजगार रहते हैं । इसलिये नया काम की तलाश में खेती-किसानी छोड़ना भी किसान के लिए नामु-

मकीन है । और यह ही है जमीनदार के लिए शोषण का सुन्हरा मौका वह किसान पर करके बोझ बढ़ाते जाता है ।

व्यवसाय संकट व बेरोजगारी

उत्पादन एक लगातार प्रक्रिया है । क्योंकि उत्पादित सामान इस्तेमाल करने पर वे खराब होते हैं, उनकी पूर्ति करना पढ़ता है । बार-बार उत्पादन करने की प्रक्रिया को पुनरुत्पादन (फिर से उत्पादन) कहा जाता है । पुनरुत्पादन दो प्रकार के होते है– सरल व वर्धित । हर साल जितने चीज नष्ट हो रहे हैं अगर सिर्फ उतना ही उत्पादन किया जाता तो सरल पुनरुत्पादन होता है । लेकिन उत्पादन की मात्रा अगर बढ़ती जाती है तो उसे बर्धित पुनरुत्पादन कहा जाता है ।

सरल हो या बर्धित कोई भी प्रक्रिया में उत्पादित कुछ चीजों को हम प्रत्यक्ष रुप से इस्तेमाल करते हैं, जैसे कि चांवल, मकान, कपड़ा, कुर्सी, मेज, फुटवाल, सिनेमा आदि । इन्हे व्यवहार्य चीज कहा जाता है । व्यवहार्य चीजों को बनाने में, कुछ चीजों की जरूरत होती है, जैसे कि मशीन, कारखाना, कच्चामाल, जमीन, खदान आदि । ये हैं उत्पादन के साधन ।

मान लें, एक साल में एक पूंजीपति का उत्पादन खर्च इस प्रकार है :–

मशीन– कच्चामाल बाबत यानि अपरिवर्तनशील पूंजी=	४००००.०० रुपये
मजदूरों के वेतन बाबत यानि परिवर्तनशील पूंजी=	३००००.०० रुपये
कुल	७००००.०० रुपये

मान लीजिए, यह ७००००.०० रुपये खर्च कर ३००००.०० रुपये का अतिरिक्त मूल्य बना । तो कुल मूल्य बना –

अपरिवर्तनशील पूंजी	=	४००००.०० रुपये
परिवर्तनशील पूंजी	=	३००००.०० रुपये
अतिरिक्त मूल्य	=	३००००.०० रुपये
कुल	=	१०००००.०० रुपये

अगर पूंजीपति उत्पादन का साधन पैदा करता है तो उत्पादन साधनों के कुल मूल्य = अपरिवर्तनशील पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी + अतिरिक्त मूल्य।

अगर पूंजीपति व्यवहार्य चीज उत्पादन करता है तो व्यवहार्य चीजों के कुल मूल्य = अपरिवर्तनशील पूंजी + परिवर्तनशील पूंजी + अतिरिक्त मूल्य।

हर साल एक पूंजीपति को जो अतिरिक्त मूल्य मिलता है, उसका कुछ हिस्सा वह खुद के लिए व अपने परिवार के लिए खर्च करता है, कुछ हिस्सा से व्यवहार्य चीजें खरीदता है, बाकी रकम वह फिर नई पूंजी के रुप मे धंधा में लगाता है। यह नई पूंजी का एक हिस्सा से मशीन आदि खरीदता है (यानि अपरिवर्तनशील पूंजी) और दूसरी हिस्सा से मजदूरों को वेतन देता है (यानि परिवर्तनशील पूंजी)।

मान लें, कोई एक पूंजीवाद समाज के 'अ' विभाग के उद्योगों में उत्पादन के साधन यानि मशीन आदि बनाये जाते है एवं 'आ' विभाग में चांवल, कपड़ा आदि व्यवहार्य चीजें उत्पादित होते हैं।

'अ' विभाग के उत्पादन यानि मशीन खरीदने वाले कौन है? कुछ मशीन तो 'अ' विभाग के पूंजीपति ही खरीदते हैं, क्योंकि अपने खराब मशीनों को बदली करनी हैं, धधा में लानें वाली नई पूंजी का अपरिवर्तन-शील हिस्सा से भी कुछ मशीन खरीदे जाते है। बाकी जो कुछ रह गये, उनको 'आ' विभाग के पूंजीपतियों के पास ही बेचना पड़ता है।

इसी तरह 'आ' विभाग में बनने वाले व्यवहार्य कुछ चीजों को 'आ' विभाग के लोग ही खरीदते है, बाकी माल 'अ' विभाग के पास बेचनी पड़ती है।

अब 'अ' विभाग 'आ' विभाग को जितने मूल्य के माल बेचना चाहते है अगर उतना ही मूल्य के माल 'आ' विभाग 'अ' विभाग को बेचें तो दोनों विभाग की ही पूरी माल बिक जायेगी।

अगर ये दोनों बराबर न होते तो कुछ माल बच जायेगी और उस

विभाग को नुकसान होगी। पूंजीपति उत्पादन कम करेंगे, मजदूरों को छटनी करेंगे कुछ कारखाने बंद कर देगें। मजदूरों के पास पैसों कम रहेगी तो वे सामान कम खरीदेगें। अक्सर श्रमिक ज्यादातर चांवल, दाल कपड़ा आदि व्यवहार्य चीजें खरीदते हैं। इसलिए इस हालत में 'आ' विभाग के पूंजीपतियों को नुकसान होगी, वे कारखाने बंद कर देगें। 'आ' विभाग के कारखाने बंद होने पर 'अ' विभाग की माल बिक्री भी कम होगी। तब 'अ' विभाग के कारखाने बंद होंगे। मजदूर बेरोजगार हो जायेंगे, 'आ' विभाग की माल बिक्री और कम होगी, 'आ' विभाग के और कारखाने बंद होंगे, और ज्यादा मजदूर बेरोजगार होंगे। इसी तरह व्यवसाय संकट व बेरोजगारी बढ़ते ही जायेगी।

पूंजीवादी उत्पादन का सिर्फ एक ही मकसद होता है- मुनाफा। उत्पादित माल बेचने पर ही अतिरिक्त मूल्य रुपये में बदल जाते हैं। लेकिन कभी-कभी पूंजीपति संकट में फंस जाते हैं। वह कैसे अब हम देखेंगे।

मान लीजिए. 'अ' विभाग में तीस हजार रुपये अतिरिक्त मूल्य बनता है, इसमें दस हजार रुपये वह अपने व अपने परिवार के लिए खर्च करते हैं, दस हजार रुपये से नये मजदूरों को वेतन देते हैं और दस हजार रुपये से मशीन आदि खरीदते हैं। मान लीजिये पुरानी मशीनों के लिए उनका खर्च चालीस हजार रुपये और पुराने मजदूरों के वेतन बाबत खर्च तीस हजार रुपये। तो 'अ' विभाग यानि उत्पादन के साधनों बनाने का विभाग से उत्पादित माल का कुल मूल्य होगा- -

	पुरानी मशीन बाबत	=	चालीस हजार रुपये	
	पुरानी श्रम शक्ति	=	तीस हजार	रु.
अतिरिक्त मूल्य	पूंजीपति का खर्च	=	दस हजार	रु.
	नयी श्रम नीति	=	दस हजार	रु.
	नयी मशीनें	=	दस हजार	रु.
	कुल	=	एक लाख	रु.

इसी तरह 'आ' विभाग में बनी व्यवहार्य माल का कुल मूल्य इस प्रकार है-

	पुरानी मशीन बाबत	—	बीस हजार रू.
	पुरानी श्रम शक्ति	=	बीस हजार रू.
अतिरिक्त मूल्य	पूंजीपति का खर्च	=	पांच हजार रू.
	नई श्रम शक्ति	=	पांच हजार रू.
	नई मशीने	=	दस हजार रू.
	कुल	=	साठ हजार रू.

अब देखें 'अ' विभाग की एक लाख रुपये की मशीने कहां बेची जा सकती है, 'अ' विभाग के पुराने मशीनें सुधार-बदली बाबत चालीस हजार रुपये की एवं दस हजार रुपये की नयीं मशीनें यानि कुल-पचास हजार रूपये की मशीनें 'अ' विभाग में ही बिक जाती है। बाकी पचास हजार रुपये का मशीन 'आ' विभाग को बेचना पड़गा।

'आ' विभाग के उत्पादित व्यवहार्य कुल साठ हजार रूपये की माल में से उसी विभाग के पूंजीपति पांच हजार रुपये की, पुराने मजदूर बीस हजार रुपये की एवं नये मजदूर पांच हजार रुपये की माल लेते है। तो बाकी (साठ हजार-पांच हजार-बीस हजार-पाँच हजार) यानि तीस हजार रुपये की माल 'अ' विभाग को बिक्री करना है।

'अ' विभाग 'आ' विभाग को पचास हजार रूपये की माल बेचना चाहती है, 'आ' विभाग 'अ' विभाग को तीस हजार रुपये की माल बेचना चाहती है। 'आ' विभाग को पूरा माल बिक जायेगा, लेकिन 'अ' विभाग की सिर्फ तीस हजार रुपये की माल ही बिक पायेगा, बाकी पचास हजार रु.-तीस हजार रु. = बीस हजार रु. की माल बच जायेगा।

तो 'अ' विभाग के पूंजीपतियों को बीस हजार रुपये की नुकसान होगी। वे उत्पादन कम कर देंगे, कुछ मजदूरों को छटनी करेंगे, बाकी मजदूरों के वेतन कम कर देंगे। मजदूर व्यवहार्य माल यानि 'आ' विभाग उत्पादन कम खरीद पायेंगे। 'आ' विभाग को भी उत्पादन कम करना पड़ेगा, 'आ' विभाग के भी मजदूर छटनी होंगे, बाकी मजदूरों को कम वेतन मिलेगा। 'आ' विभाग की माल कम और कम बिकेगी, कारखानें बंद होंगे। 'आ' विभाग के कारखानें बंद होने पर 'अ' विभाग की

माल बिक्री और कम होगी 'अ' विभाग के कारखाने में भी तालाबंदी होगी।

एक तरफ अविक्रीत माल से बाजार भरा रहेगा, और दूसरी लाखों लोग भूखमरीं से मरेंगे। पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली का इस परिणाम को व्यवसाय संकट कहा जाता हैं। 'अ' व 'आ' में उत्पादन का असंतुलन ही इस संकट का कारण है।

उत्पादन के साधनों पर निजी अधिकार व मुनाफा के लिए उत्पादन पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की विशेषताएं हैं। पूंजीपति अपनी मर्जी से माल बनाते हैं, अपनी मर्जी मुताबिक क्षेत्रों में नयी पूंजी लगाते हैं। इसलिए उत्पादन की मात्रा स्थिर नहीं रहती, असंतुलन होना ही स्वाभाविक है।

व्यवसाय संकट शुरु होने पर उसका असर व्यापार, आवागमन, बैंक आदि सभी क्षेत्रों में दिखाई जाती है। लोगों के पास पैसे न होने के कारण व्यापार कम हो जाता है, व्यापार कम होने पर रेल व ट्रांसपोर्ट कम्पनियाँ की नुकसान होती है। पूंजीपति बैंक का कर्ज चुका नहीं सकते, बैंक डूब जाते हैं।

पूंजीवादी उत्पादन की और एक अजीब बात है। पूंजीपति मजदूरों को कम वेतन देना चाहते है, जिससे उनका मुनाफा ज्यादा हो सके। मुनाफा ज्यादा होने पर वे नयी पूंजी धंधा में लगाते हैं, उत्पादन बढ़ जाता है। उत्पादन बढ़ना और मजदूरों को खरीदने की क्षमता कम होना ये भी व्यवसाय संकट के कारण हैं।

व्यवसाय संकट से बचने के लिए पूंजीपति क्या करते हैं? अगर किसी तरह मुनाफा बढ़ जाय तो कारखाने फिर खुलेंगे, मजदूरों को काम मिलेगा, संकट दूर होगा।

हम जानते हैं कि अतिरिक्त मूल्य की दर जितनी बढ़ेगी, मुनाफा की दर उतनी ही बढ़ेगी व मशीनी संगठन जितना ज्यादा होगा मुनाफा की दर उतनी कम होगी। इसलिए मुनाफा बढ़ाने के लिए पूंजीपति ऐसी तकनीकी, मशीन व श्रम विभाजन अपनायेंगे जिससे श्रम का घनत्व बढ़ सके। मशीनी संगठन कम करने के लिए वे कुछ मशीने फेंक देंगे, पूंजी विदेश में भेजेंगे व बाजार खाली करने के लिए माल खराब कर देंगे।

वे तीन तरीके अपना सकते हैं --

१. अविक्रीत माल को खराब कर देना।

२. अविक्रीत माल विदेश के बाजारों में बेचने की कोशिश करना। देश की मुद्रा की कीमत कम कर के या माल का कीमत कुछ समय के लिए घटाकर ये विदेशी बाजार दखल करने की कोशिश करते हैं।

३. उद्योगों के संगठन में परिवर्तन लाकर उत्पादन लागत कम कर देना। नयी तकनीकी, नयी मशीन व नये श्रम विभाजन के माध्यम से मजदूरों की पूरी श्रम शक्ति निचोड़ लेने की कोशिश की जाती है। इसके अलावा छोटी-छोटी कम्पनियाँ एक जूट होकर बड़ी कम्पनी का स्थापना करती है. धंधा में इजारादारी स्थापित होती है।

इजारादारी स्थापित होने पर कम वेतन देकर ठेका मजदूरों से काम कराया जा सकता है, क्योंकि मजदूर दूसरे कारखानें में काम की तलाश में तब जा नहीं सकते और क्रेताओं से भी माल के मनमौजी कीमत लिया जा सकता है। सरकार पर दबाव डालना भी इससे आसान हो जाता है।

उपर के तरीके से उत्पादन लागत कम होता है, देश के बाजार खाली होते हैं, विदेश के बाजार भी कब्जा में आते हैं। फिर कारखाने खुलते है, मजदूरों को काम मिलता है, वे बाजार से माल खरीदते हैं, माल की मांग होती है और उत्पादन भी बढ़ते जाता है, पूंजीपतियों को मुनाफा भी ज्यादा होता है। व्यवसाय-संकट दूर होने के बाद उत्पादन, क्रय-विक्रय व मुनाफा में अचानक इस बढ़ोतरी को व्यवसाय-स्फीति कहा जाता है।

लेकिन व्यवसाय-स्फीति ज्यादा दिन चल नही सकता। फिर उत्पादन में असंतुलन आता है, फिर संकट शुरु होता है। लेकिन नया संकट पुराना संकट से ज्यादा गहरा होता है, क्योंकि विदेशी बाजार दखल मजदूरों शोषण, उद्योगों के संगठनिक परिवर्तन, बड़ी कम्पनी आना, देशीय मुद्रा की कीमत घटाना- इन सभी तरीके के सीमाएं होते हैं। और व्यवसाय-संकट व व्यवसाय-स्फीति के बीच से गुजरते हुए पूंजीवाद विनाश की ओर बढ़ते जाता है।

साम्राज्यवादी उत्पादन

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली की एक विशिष्ठता है। लगातार पूंजी में वृद्धि हर व्यापार में जो मुनाफा होता है, उसकी एक बड़ी हिस्सा फिर व्यापार में लगाना पड़ता है, नहीं तो पूंजीपतियों की आपसी होड़ में टिकना मुश्किल हो जाता है। इसी होड़ के कारण कारबार बढ़ता जाता है।

छोटी-छोटी कम्पनी बड़ी कम्पनियों के साथ होड़ में हार जाती है। कई तरीके से बड़ी कम्पनी छोटी कम्पनियों पर कब्जा कर लेती है। बड़ी कंपनी की पूंजी ज्यादा रहने के कारण वे लागत से भी कम कीमत पर अपना घाटा करकें भी माल बेच देती है। कम पूंजी वाली कम्पनी ऐसा नहीं कर सकती। होड़ में हार जाती और व्यापार में बड़ी कम्पनियों की इजारेदारी कायम हो जाती है। फिर बड़ी कम्पनी माल का दाम देती है और मुनाफा बढ़ती है। कभी कभी वे पैसे से सरकारों को भी खरीद लेता और सरकारी कानून के सहारे छोटी कम्पनियों को बड़ी कम्पनी में सम्मिलित होने को मजबूर की जाती है। कच्चा माल के श्रोतों पर दबाव डालकर छोटी कम्पनियों को कच्चा माल देना बंद की जाती है। कभी कभी रेल कम्पनी को भी अपने जाल में फंसाकर छोटी कम्पनियों का माल ढोना बंद किया जाता है। गुण्डे बदमाशों को लगाकर छोटी कम्पनियों के गोदाम में आग लगाकर, मारधार के सहारे छोटी कम्पनियों को ध्वस्त किया जाता है। कोई भी तरीके से व्यापार में इजारावादी कायम करना ही इनका लक्ष्य होता है, क्योंकि तब मजदूरों को मनचाहे शोषण किया जा सकता है। ग्राहकों से मनमाने दाम अदा किया जा सकता है, सरकार पर दबाव डालकर दूसरे देशों के बाजार दखल की कोशिश की जा सकती है

१८९० तक पूंजीवादी उत्पादन में होड़ होती थी। लेकिन उसके बाद उत्पादन में इजारादारी शुरु हो गयी और आज की दुनियां में ज्यादातर उत्पादन ही इजारादारी उत्पादन में होते है।

सिर्फ उद्योग में ही नहीं बैंकिंग में भी बड़े बैंकों की इजारादारी प्रतिष्ठित हो गई है। छोटे-छोटे बहुत सारे बैंक बंद हो गये है, कुछ

छोटे बैंक बड़े बैंकों की शाखा के रुप में काम करने लगे हैं। बैंक, उद्योग और अन्य कम्पनियाँ ऐसी ही आपस में लड़कर और कुछ और बड़े बड़े बैंक, उद्योग और कम्पनियों को जन्म देते हैं।

सिर्फ इतना ही नहीं, कभी कभी बैंक के प्रभावशाली लोग उद्योग व अन्य कम्पनियों पर भी अपनी कब्जा जमा लेते है। क्योंकि अपनी धंधा चलाने के लिये उनकों बैंक से कर्जा लेना पड़ता है। इस मौका में बैंक कम्पनी की संचालक समिति में अपनी जगह कर लेता है। कभी कभी बैंक कम्पनी के शेयर खरीदकर भी कम्पनी को अपनी मुट्ठी में ले लेता है। उत्पादन-क्षेत्र में इसी तरह बैंक का प्रभाव फैल जाता है।

कभी कभी इसका विपरित भी होता है। इजारादार कम्पनियों के मालिक बैंक पर अपने कब्जा जमाते हैं। अपनी पूंजी को बढ़ानें के लिये कभी कभी वे खुद बैंक खोल बैठते या अपनी मुनाफा की एक हिस्सा में बैंक के शेयर खरीद लेते हैं।

समाज में इसी तरह एक मालिक वर्ग पैदा होता है, उत्पादन के साथ जिनका कोई सम्पर्क नहीं हैं। लेकिन बैंक और कम्पनियों के शेयर बिक्री-खरीदी के माध्यम से ये सभी उत्पादन केन्द्रों पर नियंत्रण रखते है। सभी बड़े कम्पनियों, बैंकों या बीमा नियमों का संचालन समितियों में ये ही होते हैं। पूरा देश की अर्थनीति पर नियंत्रण करने वाले ये हीं होते हैं। कुछ पूंजीपति परिवार ही देश के भाग्य विधाता बन बैठते हैं।

इजारादारी कायम होने के बाद बड़ी तादात में मुनाफा होता है, लेकिन मुनाफा को देश के बाजार में पूंजी के रुप में लगाना नामुमकिन हो जाता है। तब नई पुंजी को दूसरे देशों में लगाने की कोशिश होती है, जिन पिछड़े देशों में पूंजीवादी विकास कम हुआ, वहाँ पुंजी लगाना फायदामंद है, क्योंकि वहां कच्चा माल और मजदूर सस्ते में मिलते है। इन देशों में अक्सर मजदूर आन्दोलन भी कमजोर रहता है। इसलिये मजदूरों को आसानी से शोषण किया जा सकता है। इसलिये पूंजीवादी देशों से उनके पिछड़े उपनिवेशों मे पूंजी का निर्यात होती है। पूंजीवाद कें शुरु

में तो माल निर्यात की जाती थी, लेकिन साम्राज्यबादी युग में पूंजी निर्यात की जाती है, क्योंकि इससे मुनाफा ज्यादा होती है। उपनिवेश में पूंजी भेजने का काम बैंकों ही करते हैं।

पूंजीवादी देश के इजारादार पूंजीपति अपने देश के उद्योग-व्यापार में तो एकाधिकार रखते ही हैं, इसके अलावा अन्य पूंजीवादी देशों के इजारादार पूंजीपतियों के साथ भी बाकी दुनियाँ को आपस में बंटने के लिये समझौता करने की कोशिश करते हैं।

पूंजीवादी देशों कें बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दुनियां कें बाजार को बंटने के लिये आपस में समझौता तो करता है, लेकिन इनकी आपसी होड़ रुकी नहीं रहती। पुराने समझौते टूट जाते हैं, एक देश दूसरे देश के साथ युद्ध में उतर आते हैं।

सभी पूंजीवादी देशों में उत्पादन प्रथा के विकास बराबर नहीं है। मान लें कोई देश एक नया मशीन बना लिया या एक नया तकनीक अपनाया, वह तब कम खर्च में माल बना लेती है। तब वह समझौता तोड़कर दूसरे पूंजीवादी देशों के बाजार में माल बेचने शुरु कर देती है, इसलिये सरकार भी बाजार दखल करने की कोशिश करती है। साम्राज्यवादी युद्ध शुरु होता है और युद्ध के अन्त में दुनियां को नये ढंग से बांटा जाता है।

साम्राज्यवादी युग में करोड़ों जनता युद्ध से तो मरते ही है, लेकिन दूसरे समय में भी वे चैन से जी नहीं सकते। व्यवसाय-संकट के कारण लाखों श्रमिक बेरोजगार होते रहते हैं। गरीब लोग और गरीब होते हैं, अमीर लोग और ज्यादा धनवान।

उत्पादन के साधन शोषण के साधन बन जाते हैं। एक अजीब बात यह है कि उत्पादन के साधनों का पूरा उपयोग नहीं किया जाता; क्योंकि ज्यादा उत्पादन होने पर व्यवसाय संकट हो सकता है। एक तरफ करोड़ों लोग भुखमरीं से पीड़ित हैं और दूसरी ओर पूरा उत्पादन नहीं हो रहा है।

पूंजीवाद के समस्याओं की हल को साम्राज्यवाद सुलझा

नहीं सकता. औद्योगिक संकट, बेरोजगारी, युद्ध आदि समस्याएं बढ़ती जाती है। साम्राज्यवादी देशों के मजदूर पूंजीपतियों के खिलाफ बगावत करते है। दूसरे पूंजीवादी देश उस पर हमला बोलते हैं। उपनिवेश के जनता विद्रोह करते है। साम्राज्यवादी ढांचा टूट जाती है। स्थापना होती है, समाजतांत्रिक उत्पादन प्रणाली। समाजवाद ही पूंजीवाद व साम्राज्यवाद का एक मात्र परिणाम।

बहुराष्ट्रीय कंपनी

पहले साम्राज्यवादी उपनिवेश को सीधी रुप से शोषण करता था. आज कल यह शोषण बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के जरिये होता है। सीधा सीधा उपनिवेशों को शासन करने में कई दिक्कतें हैं। विदेशी शासन के खिलाफ स्वतंत्रता संग्राम तेज होता है, देश के मजदूर व किसान एक-जूट होकर साम्राज्यवादी शक्ति को तो पराजित करते ही है, देश के पूंजीपति वर्ग को भी उखाड़ फेकते हैं। इसलिये आजकल साम्राज्यवादो शक्तियां देशीय पूंजीपतियों की आड़ में अपने शोषण चलाते हैं। इससे साम्राज्यवाद का असली उद्दश्य पूरा हो जाता है। उपनिवेश के सम्पदा व शक्ति के शोषण जारी रहता है, लेकिन देश शासन की झंझट झेलना नहीं पड़ता। इस शोषण का काम वहुराष्ट्रीय कम्पनियों से होते हैं। इन्हे बहुराष्ट्रीय इसलिये कहा जाता है, क्योंकि साम्राज्यवादी देश की कम्पनी होने के बावजूद इनके शोषण जाल बहुत सारे देशों में फैले रहते हैं।

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद ही साम्राज्यवादी देशों के बहुराष्ट्रीय कम्पनियां दुनियां में फैल गयी हैं। दूसरे देशों में पूंजी लगाना भी बढ़ रही है।

इनके शोषण प्रणाली औपनिवशिक युग के शोषण जैसी नहीं है। गुप्त रुप में ये अन्य देशों को शोषण करती है. और मुनाफा अपने देशों ले आती हैं। पहले ये उस देश के पूंजीवादी नेता व व्यापारियों को पैसे से खरीद लेती है। फिर इन भ्रष्ट तत्वों के सहारे कुछ देशीय कम्पनी के साथ समझौता होता है, कुछ सरकारी ठेके हड़प लिया जाता हैं।

कई तरीके से ये मुनाफा लुटती है --

१. ज्यादा कीमत देकर ये अपने देश से कच्चा माल व मशीन लाती है।

२. तैयार माल को दूसरे देशों मे स्थित अपने ही कारखानों के पास कम कीमत में बेची जाती है।

३. अपना देश के कारखाना से ज्यादा तनखाह देकर इंजीनियर तकनीसियन आदि लाती है।

४. अपनें देश के पुराने व अनावश्यक माल व मशीन पिछड़े देशों में निर्यात करती है।

५. कारखाना के तकनीकों-ज्ञान बाबत रयालटी ली जाती है।

६. दूसरे देश के कारखाना में ये जो पूंजी लगाती है, उसका ज्यादा दर से ब्याज लिया जाता है।

इन तरीके से बहुराष्ट्रीय कम्पनियां पीछड़े देशों का कारखानों से बहुत मुनाफा कमाता है। इन कारखानों में थोड़ी सी ज्यादा वेतन देकर मजदूरों को खुश रखा जाता है, उनके उत्पादन अच्छा होता है, मुनाफा भी ज्यादा होती हैं।

वैदेशिक मुद्रा व अन्तःराष्ट्रीय मुद्राकोष

पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली के लिए वैदेशिक बाजार आवश्यक होते हैं। पिछड़े देशों से या उपनिवेशों से कच्चा माल लाया जाता है और तैयार माल वहाँ बेची जाती है। अपने देशों में पूंजीपतियों को जो मुनाफा होतो है, पिछड़े देशों में उसको पूंजी के रुप में लगायी जाती है।

दूसरा देश के साथ व्यापार करने के लिए वैदेशिक मुद्रा की जरुरत होती है कच्चा माल खरीदने के लिए वैदेशिक मुद्रा में कीमत चुकाना पड़ता है। फिर वहां पर तैयार माल बेचने से वैदेशिक मुद्रा का आयात होता है। विदेश में पूंजी लगाने के समय वैदेशिक मुद्रा की आवशकता होती है। फिर दूसरा देश जब कर्ज वापस करता है या कर्ज का ब्याज देता है, तो विदेशी मुद्रा देशीय मुद्रा में परिवर्तन करना पड़ता है।

विदेश के साथ व्यापार करने पर फायदा होगा या नहीं यह दो देशों की मुद्रा विनिमय की दर पर ही निर्भर करती हैं। विदेशी मुद्रा की कीमत बढ़नें पर निर्यात करने वालों को ज्यादा फायदा होता है, और आयात करने वालों को घाटा होता है। वैदेशिक मुद्रा विनिमय की दर मुद्रा का आयात निर्यात पर निर्भर करती है।

छः तरीके से वैदेशिक मुद्रा देश में आती है ––

(क) देश में तैंयार माल विदेश में निर्यात करने पर,

(ख) विदेश में नौकरी करने वाले देश में पैसे भेजने पर,

(ग) विदेशी पर्यटकों से,

(घ) विदेश को दी गई रकम या उसका ब्याज वापस मिलनें पर,

(ङ) विदेश से कर्ज लेने पर,

(च) विदेश में स्थित अपने धंधे की मुनाफा से।

देंश से रकम बाहर चली जाती हैं––

(क) विदेश से माल आयात करने पर,

(ख) विदेशी लोग देश में नौकरी करने पर,

(ग) देशीय पर्यंटक जब विदेश जाते हैं,

(घ) विदेश से ली गई रकम या उसका ब्याज वापस करनें पर;

(ङ) देश मे स्थित वैदेशिक कम्पनियों की मुनाफा के जरिये।

वैदेशिक मुद्रा विनिमय की दर

देश मे जितनी रकम बाहर से आ रही व जितनी रकम दश से वाहर जा रही है ये दोनों बराबर न होने पर मुद्रा विनिमय की दर में

उतार-चढ़ाव होता है। विदेशी मुद्रा आयात निर्यात के हिसाब को वैदेशिक मुद्रा के हिसाब कहा जाता है। इस हिसाव में अगर विदेशी मुद्रा अतिरिक्त रही, तो उसकी कीमत घट जाती है। विदेशी मुद्रा का घाटा रहने पर उसकी कीमत बढ़ जाती है।

प्रथम विश्व युद्ध के पहले मुद्रा विनिमय की दर पर नियण करने के लिये " मुद्रा के स्वर्णमान " कायम हुआ था। हर देश की मु की कीमत एक निश्चित वजन का सोना के बराबर तय की जाती थ। हर देश की सरकार को ज्यादा मात्रा में सोना खरीद कर रखना पड़ था। वैदेशिक मुद्रा की कमी होने पर सरकार सोना बेचकर विदेशि को रकम चुकाती थी ताकि वैदेशिक मुद्रा की कीमत ज्यादा बढ़ न पाये फिर कभी देश के पास वैदेशिक मुद्रा अतिरिक्त हो गयी तो सरकार उ अतिरिक्त रकम स सोना खरीद कर रखती थी। इसी तरह सोना के माध्यम से वैदेशिक मुद्रा के हिसाब में संतुलन बनाये रखा जाता था।

प्रथम विश्व युद्ध में युरोप के साम्राज्यवादी देशों ने दिवालिया हो गये, अमरीका से वे बहुत कर्ज लिए। इन देशों के पास जो सोना था वह अमरीका को देना पड़ा। मुद्रा के स्वर्णमान और काम का नहीं रहा। अब देश के केंद्रीय बैंक पर जिम्मेदारी दी गयी कि वह मौका मिलने से ज्यादा मात्रा में विदेशी मुद्रा खरीदकर जमा करें। जब भी दूसरा कोई देश के मुद्रा की मांग होती और कीमत बढ़ जाती है, तो बैंक उसी देश के मुद्रा बाजार में छोड़ देता था, कीमत घट जाती थी। जब बैंक के पास विदेशी मुद्रा नहीं रहती, सिर्फ तब ही सोना इस्तेमाल किया जाने लगा। मुद्रा बिनिमय की दर को नियंत्रश करने की इस नई तरीका को "स्वर्ण विनिमय मान" कहा जाने लगा।

अन्त:राष्ट्रीय मुद्रा कोष

द्वितीय विश्व युद्ध में साम्राज्यवादी देशों की हालत और खराब हो गयी। इन देशों के पुनर्गठन के लिए अमेरिका करोड़ों डालर कर्ज दिया। इन रकमों से उन देशों ने अमेरिका से मशीन खरीदे। अमेरिका को बहुत मुनाफा हुई और अमेरीकी पूंजीवाद भी व्यापार-संकट

से बच गया । युरोप के पूंजीवादी देशों में भी पूंजीवादी उत्पादन प्रणाली बच गयी । लेकिन इन देशों के पास सोना या वैदेशिक मुद्रा नहीं थी, जिनसे वे वैदेशिक व्यायार कर सके । इस स्थिति से मुक्ति पाने के लिये १९४४ में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष बनाया गया ।

हर देश एक निर्दिष्ट परिणाम अपनी देशीय मुद्रा और अपना सोना का एक चौथाई इस कोष में जमा किया । कोई देश में वैदेशिक मुद्रा की कमी होने पर उसे मुद्रा कोष से वैदेशिक मुद्रा कर्जा दिया जाता है । इस कर्जा पर ब्याज देना पड़ता है और कुछ सालों मे कर्ज भी चुकाना पड़ता है ।

सिर्फ पिछड़े देशों ही नहीं, बल्कि ब्रिटेन, फ्रांस जैसे पुराने साम्राज्यवादं देशों भी इस कोष से कर्ज लेने को मजबूर हुए ।

पिछड़े देशों के संकट

पिछड़े देश पूंजीवादी देशों से मशीन खरीद कर उद्योग-स्थापना की कोशिश में ऋण जाल में फंस जाते हैं । कच्चा माल निर्यात से ही ये देश वैदेशिक मुद्रा पाते हैं और उस मुद्रा से विदेशी मशीन खरीदते हैं । लेकिन कच्चा माल का कीमत कम है और तकनीकी प्रगति के कारण कच्चा माल की मांग भी कम हो जाती है । वैदेशिक मुद्रा कम मिलती है। दूसरी ओर विदेशी मशीन आदि के कीमत बढ़ती जाती है । पिछड़े देशों कें ज्यादा वैदेशिक मुद्रा की जरुरत होती है, वे और ज्यादा कर्जा लेने के लिये मजबूर हो जाता है । अन्त:राष्ट्रीय मुद्रा कोष से कर्जा पाने की एक शर्त होती है--

बहुराष्ट्रीय कम्पनियों को देश में व्यापार करने देना पड़ता है। अंत:राष्ट्रीय मुद्रा कोष के पदाधिकारी सदस्य देशों द्वारा चुना जाता है, जिस देश जितनी ज्यादा रकम कोष में जमा करता है, उसका उतना ज्यादा वोट होता है । इसलिये साम्राज्यवादी देश समूह ही कोष को नियंत्रण करते हैं और बहुराष्ट्रीय कम्पनियों के स्वार्थ देखते हैं ।

विदेशी कम्पनियां ऋणी पिछड़े देशों में अपने धंधा शुरु कर

देती है । इन कम्पनियों के शोषण से देश का वैदेशिक मुद्रा भंडार खाली हो जाता है, फिर पिछड़े देश को कर्जा करना पड़ता है । पिछड़ा देश ऋण जाल में फसते ही जाता है ।

भविष्य क्या है ?

. पूर्व अध्यायों मे हम देखे हैं कि पूंजीवाद संकट से बचने का कोई भी तरीका अपनाये, वह संकट से बच नहीं पाता ।

पूंजीवाद के अन्दर ही एक नयी उत्पादन प्रणाली के अंकुर पैदा होते हैं । पूंजीवाद अपने उत्थान के साथ साथ मजदूर वर्ग को पैदा कर अपनी कब्र खुद ही खोदता है । मुनाफा के लिए पूंजीवाद को कारखाने चाहिए और कारखाना में काम करने के लिए मजदूर चाहिए । कारखाने में मजदूरों को संगठित होने का मौका मिलता है । पूंजीपति श्रमिकों को चालाकी से विभाजित रखने की कोशिश करते हैं, लेकिन आर्थिक संकट, बेरोजगारी, मंहगाई मजदूरों को एक जूट होने पर मजबूर कर देते हैं । फिर श्रमिक किसान व समाज कें अन्य शोषित वर्गों के साथ मोर्चा बनाते हैं, क्रांति की राह पर चलने हैं और आखिर राज्य सत्ता अपने हाथ में लेते हैं, समाजवादी समाज का स्थापना होती है ।

ससाजवाद में समाज के उत्पादन, विनिमय व वितरण के सभी साधनों को सामाजिक स्वामित्व के अन्तर्गत लाया जाता है । उत्पादन मुनाफा के लिए नहीं बलिक आम जनता कें हित कें लिए, उनकी जरुरतों की पूर्ति के लिए किया जाता है । उत्पादन कें किसी साधन पर किसी का निजी स्वामित्व न होने से शोषक वर्ग धीरे धीरे समाप्त हो जाएगा । फरि आगे न कोई शोषक होगा और न कोई शोषित ।